2.5

कविवरश्रीकमलाकान्तत्रिपाठिप्रणीतम्

प्रेमपत्रम्

(काव्यम्)



प्रेमपत्रम्

व्याख्याकारः

डॉ. कमलाकान्तत्रिपाठी



श्री महेशोपवैदुषीजुषां न्यायदर्शनसारपारदृश्वनामध्ययनबोध-
नप्रचारणाद्यैः श्रौतस्मार्तधर्मप्रतिपादनपराणां आचार्यश्रीवशिष्ठ-
त्रिपाठिवर्याणां चरणारविन्दयोः सादरमर्पयतु—
गिरीशदत्तपाण्डेयः
कमलाकान्तत्रिपाठी

कविवरश्रीकमलाकान्तत्रिपाठिप्रणीतम्

प्रेमपत्रम् (काव्यम्)

व्याख्याकार:

डॉ. कमलाकान्तत्रिपाठी

अध्यक्षचरः, मीमांसाविभागे

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

वाराणसी

सम्पादक:

डॉ. अनिरुद्धचौबे

प्राध्यापकः

श्रीस्वामिनारायणसंस्कृतपाठशाला

जेतलपुर, अहमदाबाद (गुजरात)

प्राग्वाग्लेखक:

डॉ. गिरीशदत्तपाण्डेयः

संरक्षकः

भारतीय आर्यमर्यादाविज्ञानसमिति

वाराणसी

प्रकाशक

भारतीय आर्यमर्यादाविज्ञानसमिति

वाराणसी

२००८

पुस्तकप्राप्तिस्थान—
१. **डॉ. कमलाकान्तत्रिपाठी**
२४, प्राचीन अध्यापकावास
सं.सं.वि.वि., वाराणसी

२. **कोशलेशसदन**
कटरा, अयोध्या, जनपद-फैजाबाद (उ.प्र.)-२२४१२३

३. **डॉ. गिरीशदत्तपाण्डेय**
अधर्मनिरपेक्षधाम, गङ्गापुरबाजार, वाराणसी

प्रथमसंस्करण : कार्तिकपूर्णिमा, वि.सं. २०६५
१००० प्रतियाँ

मूल्य : १००.००

मुद्रक—
श्रीजी प्रिण्टर्स
नाटी ईमली, वाराणसी



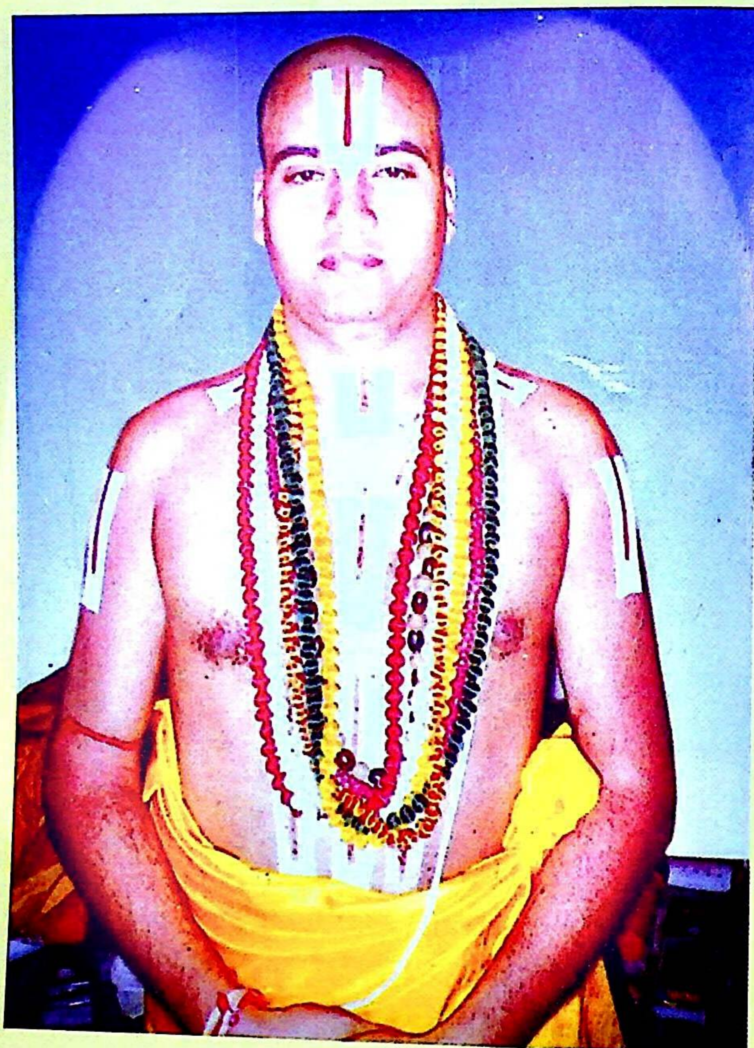
आकण्ठमग्नमिह पङ्कपराग्विवर्ते
प्रोद्धर्तुमैच्छदचिरात् प्रभुशेषजातम्।
यो वै कृपोदधिरहो तमहं यतीन्द्रं
रामानुजं मुनिवरं प्रणमामि नित्यम्।।१।।



आश्रित्य चेतसि यदत्र गुरो गरीयः
श्रीवैष्णवं पदमगु र्गृहिणोऽपि धन्याः।
तच्चारुतातिशयशालि यतीन्द्रविष्वक्-
सेनार्यपादयुगलं सततं नमामः।।२।।



यो वेदशास्त्रोदधिपारदृश्वाऽ-
विद्यामयध्वान्तमपाचकार।
रामानुजाचार्यजगद्गुरुं तं
श्रीरामनारायणमाश्रयामः।।३।।



दग्धेऽखिले दुरितवृन्द उदात्तमूर्ते-
रन्तःस्थितानिव परिस्फुरतो विभावान्।
हैयङ्गवीनहृदयान् गुरुवासुदेवा-
चार्यानहं बुधवरान् हृदि चिन्तयामि।।४।।

श्रीमतेरामानुजाय नमः  श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः

अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु रामानुजाचार्य वेदान्त मार्तण्ड यतीन्द्र-
स्वामिरामनारायणाचार्यकृपापात्र जगद्गुरु रामानुजाचार्य
स्वामी वासुदेवाचार्य जी महाराज 'विद्याभास्कर'
अध्यक्ष
कोसलेश सदन धर्मादाय (ट्रस्ट)

।। शुभाशंसनम् ।।

श्रेयस्तत्सरणिश्च मानवमनोव्यापारभूमौ कथं
स्यातां चेदिह वेद एव भगवान् भूषा भुवो नो भवेत्।
तच्छून्ये भुवने स्मृतिप्रभृतयश्शिष्टश्रियः स्युः कुतः
सर्वं तत्पशुतोचितं जगदिदं तासामभावे स्फुरेत्।।१।।
प्रेमाचार्यसुधीवरा इदमहो जानन्ति तथ्यं ध्रुवं
जानन्तोऽपि यदा हसन्ति विपुलं तत्सुव्यवस्थां प्रति।
नूनं सज्जनमानसेषु युगपद्धालाहलोद्वासिता
अत्यन्तं निपतन्ति हन्त शतधा धारा असीनान्तदा।।२।।
शिष्टाचारपरम्परासु च तथा तेषां स्मृतिष्वप्यहो
प्रोद्यच्चोद्यगणान्धकारपटलध्वंसाय चण्डांशवः।
अस्मद्विद्वदपश्चिमा विदधते नैवेह मौनव्रतं
लब्धं त्वत्र निदर्शनं समुचितं तत् प्रेमपत्रं मया।।३।।
आक्षेपप्रशमाय साधु रचितं काव्यं किलैतत् कवे-
श्चातुर्यञ्च कलां व्यनक्ति परमानन्दप्रकाशाध्वनि।
सालङ्कारगुणस्फुटद्रसमयब्रह्मानुभूतिप्रभा-
कान्तं कां न चमत्कृतिं वितनुते सामाजिकानां हृदि।।४।।
प्रेम्णो प्रेमपुरःसरं सुविहितं यत् प्रेमपत्रं परं
तद् वै ध्वस्तरजस्तमः कृतधियां सत्त्वाभिवृद्ध्यै चिरम्।
भूयात् तेन तथैव चात्र कमलाकान्तत्रिपाठी सदा
श्रीरामानुजदेशिकेन्द्रपदयोः प्रेमप्रफुल्लोत्सवः।।५।।

(हस्ताक्षर) वासुदेवाचार्य

डॉ. छोटेलाल त्रिपाठी
अध्यक्ष, साहित्य विभाग



मो.-9956120053
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२

पत्राङ्क :.................... दिनाङ्क :.......................

।। शुभाशंसनम् ।।

भारतीयार्यमर्यादासमित्यध्यक्षाणामथ च सम्पूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वविद्यालये मीमांसादर्शनाध्यापकपदमलङ्कुर्वाणानामस्मद्गुरुवर्य-महामहोपाध्यायविद्यासागराद्यनेकविरुदावलीसभाजितपण्डितराजश्री पी. एन् पट्टाभिरामशास्त्रिवर्यामोघकृपाकटाक्षासादितमीमांसानयनैपुणीजुषा-मस्मदनुजकल्पानां भार्गवगोत्रावतंसानां पण्डितश्रीकमलाकान्त-त्रिपाठिशर्मणामध्यापनपाटव-शास्त्रग्रन्थिभेदननैपुण्यकाव्यरचनाकौशल-मूर्धन्यधन्यतामावहतां प्रेमपत्राभिधानां कृतिमिमां दर्शं दर्शं मोमुद्यते मदीयं मन:।

धर्मशुद्धि-पातित्यपेटिकाग्रन्थावधिकृत्यार्यमर्यादाविरोधिभि: कति-पयविद्वद्मानिभिर्धर्मध्वंस-पतितमीमांसादिक्षुद्रपुस्तकाभासेषूद्भाविता-नामाक्षेपाणां समाधानव्याजेनोत्तररूपायामस्यां काव्यवल्लर्यां 'प्रेमपत्रम्' इति नाम्न्यां साम्प्रतिकसामाजिकविध्वंसकतत्त्वानां मुखभञ्जनार्थं बद्धपरिकराणां श्रीत्रिपाठिवर्याणां पुरुषार्थचतुष्टयावबोधककाव्य-प्रयोजनपथीना काव्यप्रतिभा यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये च प्रकाशमातन्वाना शास्त्रपरिपाकं तु व्यनक्त्येव, अलङ्कारकृत-ध्वनिकृत-चमत्कारैरपि सहृदयान् शास्त्रचिन्तकांश्च चमत्कुर्वन्ती सती स्मृतिमपि उद्बोधयन्ती कवेरस्य क्रान्तदर्शितामपि सम्यगालोकयति।

अस्यां कृतौ धर्मकञ्चुकीयानां पाखण्डप्रसारमसहमानस्यास्य कवे: सर्वपथीना प्रतिभा सर्वथैव राष्ट्रहितावहा शिवेतरक्षतयेऽस्त्विति कामयमानो बहुवक्तव्याद् विरमति—

(हस्ताक्षर)

(डॉ. छोटेलाल त्रिपाठी)

डॉ. सदानन्द शुक्ल
उपाचार्य, ज्यौतिष विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी



फोन-2207605
निवास : ९, प्राचीन अध्यापक-
आवास, सं.सं.वि.वि.,वाराणसी

दिनाङ्क :......................

।। शुभाशंसा।।

सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय के मीमांसादर्शनविभाग के प्राध्यापक आचार्य पं. श्री कमलाकान्तत्रिपाठी अध्यापन के अतिरिक्त लेखनकला में भी पूर्णतः परिनिष्ठित आचार्य हैं। आप द्वारा विरचित धर्मशुद्धि (हिन्दी), पातित्यपेटिका (संस्कृत-हिन्दी), प्रसुप्तोन्मेष (संस्कृत-हिन्दी) तथा सम्पादित कृति 'महाभारत-संग्राम एवं भीष्म निर्वाण' ग्रन्थों का अवलोकन करने से विदित होता है कि विद्या-क्षरण के इस पतनोन्मुख प्रवाह में भी आपका चिन्तन कुमारिलभट्ट, प्रभाकरमिश्र, पार्थसारथि मिश्र की परम्परा को अपने अन्तस् में समेटे हुए है। श्रौतस्मार्त्तपरम्परा के अनुसार लेखन एवं चिन्तन वर्त्तमान की महती आवश्यकता है।

'प्रेमपत्रम्' आप की ओजस्विनी कृति मन्दाक्रान्ताछन्द में उपनिबद्ध सरस ललित पदरचना एवं अर्थगाम्भीर्य के अतिरिक्त काव्योचित समस्त उपादानों से समलङ्कृत है। उत्तम भावों से ओतप्रोत होती हुई यह लघु कवितावली मेघदूत की तरह सम्बोध्य को चमत्कृत एवं आह्लादित करने तथा प्रतिपक्षी के मस्तिष्क एवं अन्तःकरण को प्रभावित करने में पूर्ण रूप से सफल है।

भारतीय आर्यमर्यादाविज्ञानसमिति द्वारा उद्धृत 'आर्यमर्यादापीठ' के आचार्य एवं अध्यक्ष के रूप में स्वयम् के द्वारा प्रस्तुत साहित्य में आर्यमर्यादा के रहस्यों का प्रस्तुतीकरण एवं विरोधिमुखभंजन सफलतापूर्वक करके श्रीत्रिपाठीजी ने वास्तविक आचार्यत्व को प्रमाणित कर दिया है।

'प्रेमपत्रम्' में आपका कवित्व मुखरित हुआ है। आप स्वस्थ एवं प्रसन्न रहें तथा उदात्त राष्ट्रीय विचारों से अविराम बुद्धजीवी वर्ग को शीतल एवं प्रेरित करते रहें, ऐसी शुभकामना है।

सदानन्द शुक्ल

(डॉ. सदानन्द शुक्ल)

श्री गणेशाय नमः श्री सीतारामाभ्यां नमः श्री तपस्विने नमः

श्री तपस्वी आचार्य-पीठ

श्री महन्त श्री सर्वेश्वर दासजी महाराज

श्री स्वामी तपस्वी जी की छावनी, रामघाट-अयोध्या,
फैजाबाद उ.प्र., भारत : 224123

।। शुभाशंसनम् ।।

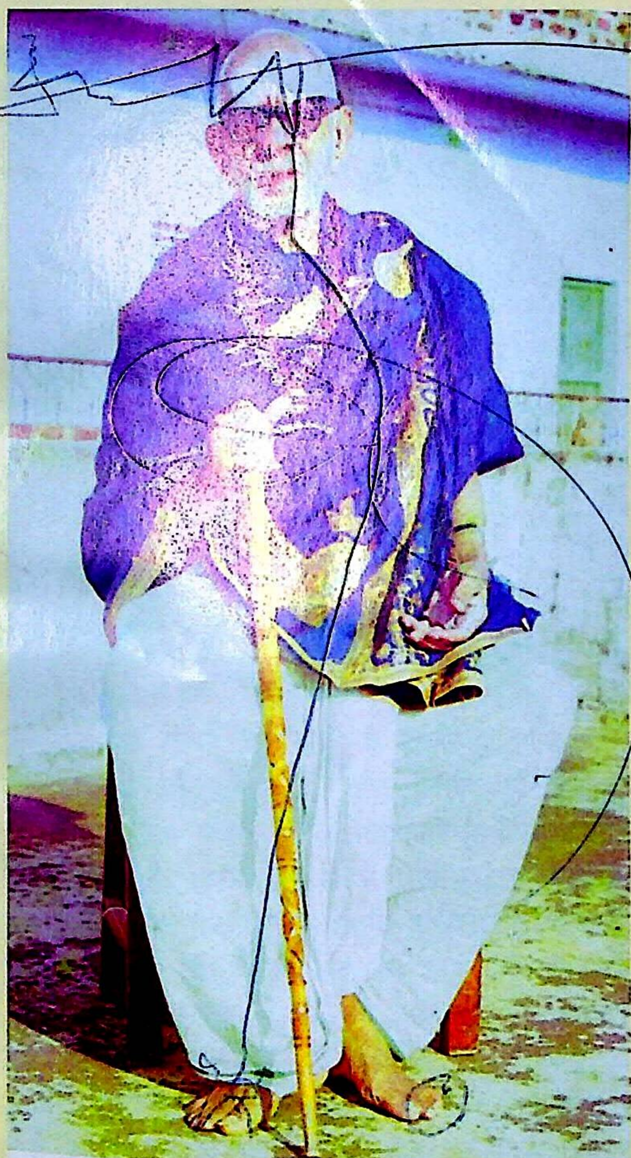
आर्यमर्यादापीठ के आचार्य पं. प्र. श्री कमलाकान्तत्रिपाठी के द्वारा प्रणीत 'प्रेमपत्रम्' काव्य का अक्षरशः अनुशीलन किया। समाज की प्रवृत्ति को देखकर कविहृदय का उद्वेलित होना और उस उद्वेलन का काव्यरूप में परिणत हो जाना आश्चर्य नहीं है। यह होता आया है। स्मृतियों और शास्त्रों के प्रति तुच्छ युक्त्याभासों से किया जाने वाला आक्षेप सकलसाधुसमाज और विद्वत्समाज को सह्य नहीं होगा। शासन को भी यह बात समझनी चाहिये। आज समाज में जो भी समस्यायें पैदा हो रही हैं उसमें शासन की अदूरदर्शिता ही कारण है। आश्चर्य की बात है कि आज अनेकों टन मांस आवश्यकता पड़ने पर उपलब्ध हो जायेगा किन्तु वटुओं के उपनयन के लिए एक इञ्च चौड़ा मृगचर्म ढूढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। यही स्थिति रही तो संस्कारोपयोगी सारी वस्तुयें दुर्लभ हो जायेंगी और पदे पदे संस्कारभ्रष्टता के प्रयोजक मांस-मद्य-अण्डे आदि पदार्थ उपलब्ध होने लगेंगे। ऐसी स्थिति में स्वच्छ समाज की संरचना के लिए विशेषतः साधुसमाज और विद्वत्समाज को ही समवेत होकर व्यापक अभियान छेड़ना होगा। शासन को भी इसमें सहयोग करना चाहिये।

हम यह कह सकते हैं कि आज भारत में जो अनैतिकता और कदाचारों की अभिवृद्धि हुई है उसमें श्रौत-स्मार्त व्यवस्थाओं के प्रति अनास्था और उदासीनता ही कारण है। इन सारे तथ्यों को सयुक्तिक 'प्रेमपत्र' के माध्यम से प्रस्तुत करके कवि ने श्लाघनीय कार्य किया है। श्रीप्रेमाचार्य शास्त्री जी को भी समझ लेना चाहिये कि हम न्याय का ही समर्थन करेंगे अन्याय का नहीं।

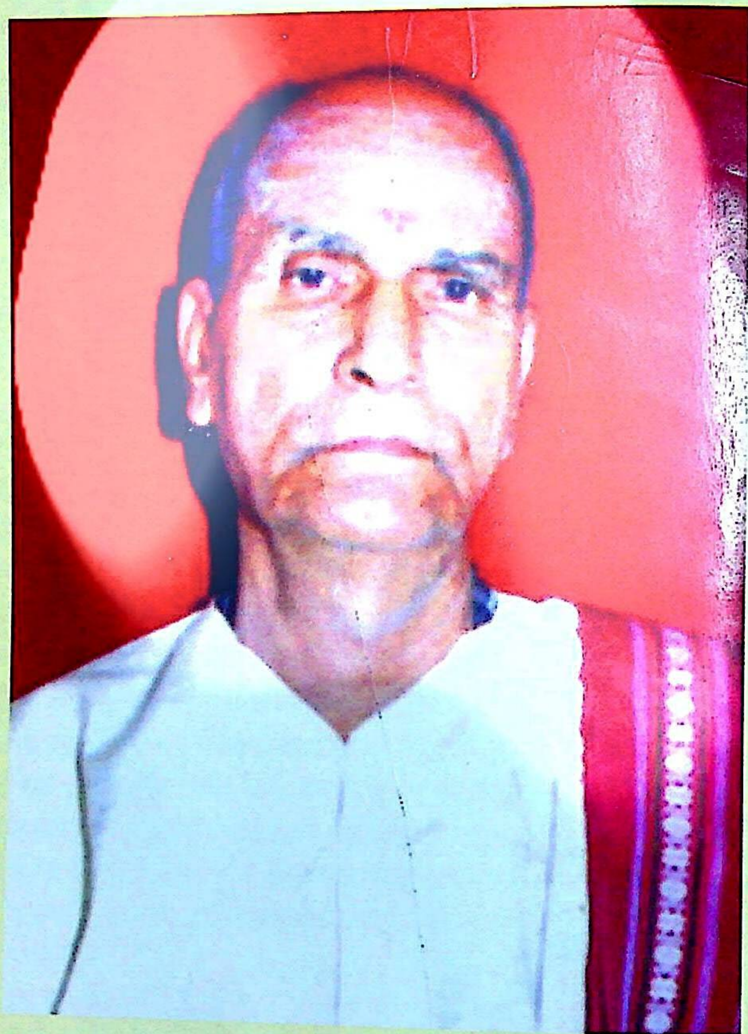
अन्त में कविवर को हम भूरिशः धन्यवाद देते हैं कि वे इसी तरह राष्ट्रहित में श्लाघनीय कार्य करते रहें। भगवान् श्री राघवेन्द्रजी की सतत उन पर कृपा बनी रहे।

इत्याशिषः

-महन्त सर्वेश्वर दास-



प्रालेयकान्तिचयचुम्बितचारुदेहाः
स्वाध्यायसिन्धुमथनोद्भवरत्नगेहाः।
पट्टाभिरामइतिनामजुषो मदीयाः
क्लान्ती हरन्तु गुरवो धृतजैमिनीयाः।।२।।



विद्यानुरूपविपुलस्पृहणीयशिष्टा-
चारप्रमाणवपुषः खलु ये धरायाम्।
तान् वै बृहस्पतिनिभानिह पूज्यपादान्
श्रीवायुनन्दनगुरून् शिरसा नमामि।।१।।

सम्पादकीय

वार्धक्येऽपि प्रियमुनिवरध्यानयोगेन नूत्ने
यूनीवाहर्निशमतितरां क्वापि लीनैकचित्ते।
सम्यक्सिद्धे गुणवति गुरौ योगिनि श्रीमतीह
श्यामानन्दे मम मतिरियं निश्चला निर्मला स्यात्।।

सहृदयों के पाणिपल्लवों में 'प्रेमपत्रम्' काव्य का आगमन निश्चय ही भगवान् की इच्छा का विपाक है। जिस पृष्ठभूमि को लेकर इस काव्य की रचना हुई है उसमें सहृदयहृदयाह्लादकारिता का समन्वय एक दुष्कर कार्य है जिसे हमारे सुहृद्वर्य सहृदय कवि श्रीकमलाकान्तत्रिपाठीजी ने कर दिखाया है जिसका अनुभव स्वयम् सामाजिकजन करेंगे। काव्य की धारा में बहकर प्रतिपाद्य विषयवस्तु को भूल जाना भी उचित नहीं है, अत: उसका भी पूर्णत: ध्यान रखा गया है। यह कह सकते हैं कि विद्वदपश्चिमश्रीप्रेमाचार्यशास्त्रीजी की 'पतितमीमांसा' ही इसके मूल में है तथापि इस महनीय काव्य को व्यक्तिगतत्व से हटाकर सामान्यपरतया स्वीकार करना उचित है। सांसारिक विषयों के प्रति अन्धे प्रेम को लेकर लिखा गया यह प्रेमपत्र क्यों नहीं हो सकता? निर्विशेष सामान्य नहीं होता, अत: अपने श्रीप्रेमाचार्यजी महाराज भी इसके लपेट में आ जाँय तो कोई आश्चर्य नहीं। वैषयिक प्रेम का अन्धापन शास्त्रीय निष्ठा को समाप्त कर देता है और उनमें विद्यमान आदर्शों की अवहेलना करने लगता है। ऐसी स्थिति में विद्वान् कवि का उद्वेलित होकर शास्त्रों के प्रति अनास्था के बीज को ध्वस्त कर देने का प्रयास सार्थक और श्लाघनीय होगा ही। यवनकाल से किंवा बौद्धकाल से लेकर आङ्लकाल से होते हुए स्वतन्त्रता के बाद आधुनिककाल तक शास्त्रीयमर्यादायों के प्रति जो कुछ भी विषवमन हुआ है उसमें तुच्छ

वैषयिक प्रेम नहीं है तो क्या है? ऐसे अन्धे और स्वार्थमूढ प्रेम को उद्बुद्ध करने के लिए ही यह **प्रेमपत्र** है। इसीलिए 'प्रेमन्', इस सम्बोधन का ही उपन्यास है। यह प्रेम यदि स्वयम् को आचार्य मान ले तो शास्त्र गये काम से। वह मूलत: छेदन के लिए आतुर होगा ही। बहुत सुन्दर रचना इस विषय में बन गयी है—

'प्रेमन्नन्तर्हृदयमभितो भासि तथ्यं वदातः
संरम्भस्ते प्रभवति न मे मूलतश्छेदनाय?
कस्याश्वासस्त्वयि खलु भवेद् ब्राह्मणे यन्मयि त्वं
साक्षाद्धालाहल इव मुधा भूरिशो भीषणोऽभूः।।'

यह कवि की भी अपने वैषयिक प्रेम के प्रति उक्ति हो सकती है। इसलिए तो कहा है कि मेरे हृदय में चारों ओर भासित हो रहे हो अत: यथार्थ बोलो। यदि अयथार्थ बोलना चाहोगे तो पकड़ में आ जाओगे क्योंकि तुम हृदय में ही रहते हो, यह ध्वनि हुई। क्या तुम्हारा उपक्रम हमें मूल से ही छेदन का नहीं है? अर्थात् है ही, क्योंकि तुम शास्त्रों के प्रति अनास्था पैदा करके नि:श्रेयस से दूर कर देना चाहते हो। इसके आगे धर्मशास्त्र का विषय है। जो ब्राह्मण के प्रति ही भीषण अनर्थकारी हो जाय उसके प्रति चराचरात्मक जगत् में किसी का भी विश्वास नहीं हो सकता। ब्रह्मद्वेषी का अनर्थपात पदे पदे है, यह वेद से लेकर सारी विद्याओं में भरा पड़ा है। जिसका अनर्थ में पात हो उसके प्रति कैसा विश्वास? यद्यपि इस वैषयिक प्रेम को अभिलक्षित करके व्याख्या ग्रन्थ में भी है तथापि मुझे तीसरा अर्थ भी प्रतीत हो रहा है। श्रीशास्त्रीजी और वैषयिक प्रेम के अतिरिक्त निर्विशेषब्रह्मवादी वेदान्ती के ब्रह्मप्रेम को क्यों नहीं लिया जा सकता?

क्या वह संसार के मूल में विद्यमान अध्यास के छेदन के लिए नहीं होता? प्रमातृत्व (अहम्भाव) को समाप्त करते समय क्या वह प्रमाता के लिए भीषण नहीं है? कहा भी है किसी कवि ने—

'अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा-
लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निलीयामहे।'

वेद अपौरुषय हैं जिनकी प्राप्ति आज तक गुरुपरम्परा से होती आ रही है। जो उन्हें पुरुषकृत मानते हैं उनके द्वारा भी वह पुरुष सर्वज्ञ ईश्वर ही है। सकल वाङ्मय ही इस तथ्य को प्रकट करते हैं। फिर तो काणे का धर्मशास्त्र का इतिहास या आङ्लशैली का आधुनिक अनुसन्धान मान्यता के विरोध में उठाया गया कदम ही सिद्ध होगा। इसीलिए ऐसी रचनायें शासन से पुरस्कृत होती रहती हैं। संस्कृतवाङ्मय के अनुशीलन के लिए स्थापित शिक्षणसंस्थान ज्ञानप्राप्ति के लिए हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उस ज्ञान का उपयोग कहाँ होना चाहिये, यही विचारणीय है। क्या उसका उपयोग मान्यताविरोधी अनुन्धान में होना चाहिये या धर्मानुष्ठान और अधर्मों से व्यावृत्ति में? प्रथम पक्ष अनुचित है जो चल रहा है। द्वितीय पक्ष ही उचित है जिसे अस्पृश्य बनाया जा रहा है। यहाँ भी वैषयिक प्रेम ही मूल में है जिसके उद्बोधन के लिए यह **प्रेमपत्र** है। त्रैवर्णिक के लिए इस कलियुग में पूर्णरूप से अस्पृश्य मदिरा और भोगप्रधान शिक्षा है। दोनों का विस्तार आज चरम पर है। 'मधुशाला' पहले उस स्थान में कुत्रचित् ही रहती थी जिधर सभ्यों का आना जाना नहीं होता था। आज उनकी बाढ़ आ गयी है। एकलक्ष शासन को देकर ताम-झाम से मदिरालयों का संचालन किया जा सकता है, ऐसा समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलता है। आपसी सद्भाव का सस्ता उपाय यही आज शासन की दृष्टि में है। प्रयोजन इसका वैदिक विशेष धर्मों का निर्मूलन ही है। कवि का इस विषय में अपार क्षोभ परिस्फुट हुआ है—

ग्रामे ग्रामे भवति मदिरागारवृद्धिस्तथैव
शिक्षारामाः कलुषकपटावर्तनायोल्लसन्ति।
यत्रोन्मत्ता इव तरुणिमोद्गारवन्तः कुमार्गे
बद्धोत्साहा ऋषिभिरुदितां पद्धतिं दारयन्ति।।८०।।

पीठ के ही कार्य में लगे अवनीशत्रिपाठी ने बतलाया कि त्रैवर्णिक यदि मद्यपान न करें तो मद्य की सारी दुकाने बन्द हो जाँय। ऐसी अवस्था में कहाँ का धर्म और कहाँ का धर्मशास्त्र और कहाँ का वर्णप्रविभाग। विपत्ति में भी सारे अन्नों के भक्षण की जो अभ्यनुज्ञा है वह सुरा को छोड़कर ही है क्योंकि सुरापान का मरणान्तिक प्रायश्चित्त आम्नात है। इस तथ्य को—

अपि च स्मर्यते। (ब्रह्मसूत्र-३.४.३०)

शब्दश्चातोऽकामकारे। (ब्रह्मसूत्र-३.४.३१)

इन सूत्रों के भाष्य में सुव्यक्त किया गया है। सुरा अन्न नहीं है अत: उसका वर्जन है—

सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिञ्चेयुः।
सुरापाः कृमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षणात्।।

कलियुग में क्षत्रिय, वैश्यों के लिए भी प्रतिबन्ध है। इसीलिए 'ब्राह्मण' पद इन दोनों के उपलक्षणार्थ होगा। उष्णा का अर्थ है अग्नि के समान तपी हुई जिसके पान से मरने के बाद शुद्धि है। अन्य प्रायश्चित्त जो स्मृतियों में हैं वे वैद्यक्रिया में सुरा के उपयोग को लेकर हैं। इससे सुरापान की महती अनर्थकारिता प्रकट है। आज धर्म और धर्मस्व को अपने कब्जे में लेने वाले बड़े-बड़े संघटनों की विवशता है कि वे इस विषय में चुप्पी साधें। अन्यथा उनका संघटन ही छिन्न-भिन्न हो जायेगा। श्रीप्रेमाचार्यशास्त्रीजी भी इन व्यवस्थाओं को बदलना चाहेंगे। इन सभी लोगों का सुरापायियों के प्रति जो प्रेम है उस प्रेम के प्रति भी यह **प्रेमपत्र** है।

अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। यह **प्रेमपत्र** व्यापक दृष्टिकोण वाला है। सत्ता के लिए राष्ट्रिय हितों के प्रति उदासीनता, गुटबन्दी, नियमों का उल्लङ्घन, मान्यता के विरुद्ध क्रियाओं में वैधता का आपादन आदि के प्रति जो प्रेम बढ़ रहा है उस प्रेम को ही लिखा गया यह **प्रेमपत्र** है।

बहुत से अपेक्षित तथ्यों को इसमें ध्वनितः और अलङ्कारों की योजना के माध्यम से प्रकट किया गया है। नारियाँ घर की भूषण होती हैं अतः शिष्ट वेशभूषा से ही उनकी शोभा है। यदि उन्हें खाकी वर्दी पहनाकर सड़कों पर खड़ा कर दिया जायेगा तो भद्दा लगेगा ही। दृष्टान्तालङ्कार के माध्यम से इस बात को कह दिया गया है—

अस्मिन् तन्त्रे जघनचपलादुष्टयोषिद्भटीनां
संख्यावृद्धिः कथमिव भवेत् स्वच्छतापादनाय।।१२।।

शिष्टपुरुषों के प्रति इनका दुरुपयोग अस्वाभाविक नहीं है।

स्रोतोभङ्गैः सरितमिव ते दुर्भगा दूषयन्ति।।११।।

यहाँ उपमा के उपन्यास से शासन के द्वारा किये जाने वाले नदियों के प्रवाहभङ्ग को सूचित किया गया है जो पातकों में परिगणित है। इसी तरह अन्यत्र भी है। काव्य के अनुशीलन से सभी तथ्यों का परिज्ञान संभव है।

इस लघुकाव्य में धर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा भी है जो काव्यत्वगुण से पूर्ण है। इस प्रकार इसे अनुसन्धानप्रबन्ध कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। गहन अनुसन्धान है। सारी विद्याओं को शृङ्खलाबद्ध कर दिया गया है ताकि किसी भी अंश में परिवर्तन या संशोधन की सम्भावना न रहे।

धर्मसङ्घ की स्थापना श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज के द्वारा की गयी है। स्वामीजी पूरे आस्तिक समाज के हैं अतः उनकी संस्थाओं में आस्तिकमात्र की दृष्टि स्वाभाविक है। जब उस मञ्च पर तीन फर्जी शङ्कराचार्य बैठें तो स्वामीजी भी प्रभावित होते हैं तथापि वे इतनी ऊँचाई पर हैं कि उन पर आक्षेप नहीं किया जा सकता। श्रीप्रेमाचार्य जी का आद्यशङ्कराचार्य श्रीभगवत्पाद और धर्मसम्राट् स्वामीजी के प्रति यह कहना कि उनका सन्न्यास शास्त्रीय नहीं था, कहाँ का औचित्य है? ब्रह्मचर्य = वेदशास्त्राध्ययन के

संस्था के संरक्षक पं. प्र. श्रीगिरीशदत्तपाण्डेय जी का तो काव्य में कुछ नूतन रहस्यों के प्रति दिगुन्मीलन भी हुआ है। उनकी मूर्धन्य मेधा राष्ट्रहित में ही सदैव सक्रिय रहती है। हम उनके प्रति भी कृतज्ञ हैं। एवमेव डॉ. रामसुखत्रिपाठीजी, डॉ. दुर्गाप्रसाद मिश्र जी और डॉ. विजयकुमार पाण्डेय का जो सहयोग प्राप्त होता है उसके लिए उनको पूर्णतः धन्यवाद है।

इस संस्था के महनीय कार्य में सुश्रीप्रियङ्कासिंह का योगदान अविस्मरणीय है। महान् ग्रन्थ 'पराशरमाधव' की व्याख्या के लेखन में उसने श्रम किया ही है, इस ग्रन्थ के प्रतिलिपिकरण आदि कार्यों में भी उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसके लिए उसे भी भूयः धन्यवाद है।

अन्त में श्रीअवधनाथपाठक जी का सम्पृक्त होना सुखद अनुभव है। पाठक जी मेरे पुराने मित्र हैं और अपनी कर्मठता के लिए जाने जाते हैं। समिति के सचिव डॉ. दिलीपकुमार चौबे जी और अनुज श्रीकान्तत्रिपाठी जी को भी धन्यवाद है। इन सारे सुहृद्वर्यों की प्रेरणा से ही मैं इस गुरुतर सम्पादनकार्य में समर्थ हुआ हूँ।

जिस गतिशीलता से श्रीअनूपनागर जी ने मुद्रणकार्य का सम्पादन किया है उसके लिए हम उनके आभारी रहेंगे। हम विलम्ब कर सकते हैं किन्तु वे नहीं कर सकते। दिन प्रतिदिन वे उन्नति करते रहें, यही भूतभावन भगवान् विश्वनाथ से कामना है।

डॉ. अनिरुद्ध चौबे
प्राध्यापक
श्रीस्वामिनारायणसंस्कृतमहाविद्यालय,
जेतलपुर, अहमदाबाद

प्राग्वाक्

आचार्यकमलाकान्तत्रिपाठी जी द्वारा विरचित एवं सम्पादित महनीय धर्मशुद्धि, पातित्यपेटिका-प्रसुप्तोन्मेष तथा महाभारतसंग्राम एवं भीष्मनिर्वाण नामक शोधपूर्ण एवं उत्कृष्ट ग्रन्थरत्नोपहारों के क्रम में 'प्रेमपत्रम्' नामक लघुकाव्य ग्रन्थ मन्दों (पतितों) को आक्रान्त करने में सक्षम है, क्योंकि महाकवि कालिदासविरचित विश्वप्रसिद्ध काव्य 'मेघदूतम्' से अनुप्राणित 'मन्दाक्रान्ता' छन्द में प्रसूत है। सती, सन्त, धर्म एवं आर्यमर्यादा, मानवता के आधार हैं जिन्हें दूषित करने वाले महापतित हैं। वेद, स्मृति, सदाचार एवं तदविरुद्ध आत्मतुष्टि ही पातित्यापातित्य का अनादि निकष है। इतिहास साक्षी है कि आर्यमर्यादाविरोधी शासकों के राजधर्मविरोधी आचरणों के कारण भारतवर्ष के अनेक जनपद वेदबाह्य हो गये। कारण है— मनु महाराज के मतानुसार 'ब्राह्मणानामदर्शनात्'। 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ है—वेद क्योंकि 'वेद' पद मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों का बोधक है। महर्षिकात्यायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ़ प्रभृति के अनुसार 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यही सिद्धान्त है। 'रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवत्' यह निष्कर्ष आदिकवि महर्षि 'वम्री' अर्थात् वाल्मीकि से धर्मसम्राट् ब्रह्मलीन श्रीकरपात्री जी तक अपरिवर्त्तनीय था, है और रहेगा। इस अनादि अपौरुषेय श्रुतिस्मृतिसिद्ध आर्यमर्यादा की स्थापना के लिये ही 'लोकमान्यबालगंगाधर' तिलक ने स्वराज्य की आवश्यकता प्रतिपादित की है जो ऋग्वेद के 'यतेमहि स्वराज्ये', इस मन्त्र में स्पष्ट है। ऐतरेय ब्राह्मण में इसका उपबृंहण 'साम्राज्यं वैराज्यम्' आदि सन्दर्भों में द्रष्टव्य है। भारतवर्ष का विभाजन अनार्यजुष्ट था। श्रौत और स्मार्त्त यज्ञों का विरोध, बलात् स्वधर्मभ्रंशादि अनार्यजुष्ट कर्मों का सम्पादन-समर्थन, राष्ट्र के विशालभूभागों का परोक्षहस्तान्तरण, गंगाप्रवाहावरोध, संस्थागत-

संस्था के संरक्षक पं. प्र. श्रीगिरीशदत्तपाण्डेय जी का तो काव्य में कुछ नूतन रहस्यों के प्रति दिगुन्मीलन भी हुआ है। उनकी मूर्धन्य मेधा राष्ट्रहित में ही सदैव सक्रिय रहती है। हम उनके प्रति भी कृतज्ञ हैं। एवमेव डॉ. रामसुखत्रिपाठीजी, डॉ. दुर्गाप्रसाद मिश्र जी और डॉ. विजयकुमार पाण्डेय का जो सहयोग प्राप्त होता है उसके लिए उनको पूर्णतः धन्यवाद है।

इस संस्था के महनीय कार्य में सुश्रीप्रियङ्कासिंह का योगदान अविस्मरणीय है। महान् ग्रन्थ 'पराशरमाधव' की व्याख्या के लेखन में उसने श्रम किया ही है, इस ग्रन्थ के प्रतिलिपिकरण आदि कार्यों में भी उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसके लिए उसे भी भूयः धन्यवाद है।

अन्त में श्रीअवधनाथपाठक जी का सम्पृक्त होना सुखद अनुभव है। पाठक जी मेरे पुराने मित्र हैं और अपनी कर्मठता के लिए जाने जाते हैं। समिति के सचिव डॉ. दिलीपकुमार चौबे जी और अनुज श्रीकान्तत्रिपाठी जी को भी धन्यवाद है। इन सारे सुहृद्वर्यों की प्रेरणा से ही मैं इस गुरुतर सम्पादनकार्य में समर्थ हुआ हूँ।

जिस गतिशीलता से श्रीअनूपनागर जी ने मुद्रणकार्य का सम्पादन किया है उसके लिए हम उनके आभारी रहेंगे। हम विलम्ब कर सकते हैं किन्तु वे नहीं कर सकते। दिन प्रतिदिन वे उन्नति करते रहें, यही भूतभावन भगवान् विश्वनाथ से कामना है।

डॉ. अनिरुद्ध चौबे

प्राध्यापक

श्रीस्वामिनारायणसंस्कृतमहाविद्यालय,

जेतलपुर, अहमदाबाद

प्राग्वाक्

आचार्यकमलाकान्तत्रिपाठी जी द्वारा विरचित एवं सम्पादित महनीय धर्मशुद्धि, पातित्यपेटिका-प्रसुप्तोन्मेष तथा महाभारतसंग्राम एवं भीष्मनिर्वाण नामक शोधपूर्ण एवं उत्कृष्ट ग्रन्थरत्नोपहारों के क्रम में 'प्रेमपत्रम्' नामक लघुकाव्य ग्रन्थ मन्दों (पतितों) को आक्रान्त करने में सक्षम है, क्योंकि महाकवि कालिदासविरचित विश्वप्रसिद्ध काव्य 'मेघदूतम्' से अनुप्राणित 'मन्दाक्रान्ता' छन्द में प्रसूत है। सती, सन्त, धर्म एवं आर्यमर्यादा, मानवता के आधार हैं जिन्हें दूषित करने वाले महापतित हैं। वेद, स्मृति, सदाचार एवं तदविरुद्ध आत्मतुष्टि ही पातित्यापातित्य का अनादि निकष है। इतिहास साक्षी है कि आर्यमर्यादाविरोधी शासकों के राजधर्मविरोधी आचरणों के कारण भारतवर्ष के अनेक जनपद वेदबाह्य हो गये। कारण है— मनु महाराज के मतानुसार 'ब्राह्मणानामदर्शनात्'। 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ है—वेद क्योंकि 'वेद' पद मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों का बोधक है। महर्षिकात्यायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ़ प्रभृति के अनुसार 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यही सिद्धान्त है। 'रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवत्' यह निष्कर्ष आदिकवि महर्षि 'वम्री' अर्थात् वाल्मीकि से धर्मसम्राट् ब्रह्मलीन श्रीकरपात्री जी तक अपरिवर्त्तनीय था, है और रहेगा। इस अनादि अपौरुषेय श्रुतिस्मृतिसिद्ध आर्यमर्यादा की स्थापना के लिये ही 'लोकमान्यबालगंगाधर' तिलक ने स्वराज्य की आवश्यकता प्रतिपादित की है जो ऋग्वेद के 'यतेमहि स्वराज्ये', इस मन्त्र में स्पष्ट है। ऐतरेय ब्राह्मण में इसका उपबृंहण 'साम्राज्यं वैराज्यम्' आदि सन्दर्भों में द्रष्टव्य है। भारतवर्ष का विभाजन अनार्यजुष्ट था। श्रौत और स्मार्त्त यज्ञों का विरोध, बलात् स्वधर्मभ्रंशादि अनार्यजुष्ट कर्मों का सम्पादन-समर्थन, राष्ट्र के विशालभूभागों का परोक्षहस्तान्तरण, गंगाप्रवाहावरोध, संस्थागत-

पशुवधादि कर्म पतित, अनार्यजुष्ट एवं पातित्यप्रयोजक हैं। समुद्रलङ्घन भी पातित्यप्रयोजक है, ऐसा 'पातित्यपेटिका' में प्रतिपादित है।

जो कार्य हजारों वर्षों की दासता में नहीं हो सका, भारतवर्ष में विदेशी एवं आर्यमर्यादाविरोधी शासक भी सम्पूर्णरूप से जिसे लाखों प्रयत्नों से पूर्ण नहीं कर सके उसी कार्य को 'नवीनशास्त्र एवं स्मृति' की रचना का प्रयास करने वाले तथाकथित हिन्दू महानुभाव करना चाहते हैं। उन्हें यह नहीं दीखता कि सिन्ध, पंजाब और बंगाल में सुधारवाद ने धर्मान्तरण को ही विकसित किया तथा विभाजन की त्रासदी वहीं उमड़ी। श्रुतिस्मृति-पुराणप्रतिपादित सदाचार का सुधारवाद से विरोध रहा है। सुधारवादी राजसत्ता की छत्रछाया में सत्ता में भागीदारी के लाभ के लोभी हैं। उन्हें वेद से कुछ लेना देना नहीं है। शास्त्रमर्यादाविरोधी ये सुधारवादी जो वेद और तन्मूलक धर्मशास्त्रादि में प्रतिपादित 'स्वधर्म-परधर्म' विवेक के मूल धर्मशास्त्र को समाप्त करके नवीन धर्मशास्त्र की आवश्यकता की घोषणा करते हैं वे सनातन वेद और स्मृति-मूलक सदाचार के विरोधी अत एव पतित ही हैं। प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज आदि सुधारवादी आन्दोलनों का परिणाम हिन्दूसमाज की सनातन अस्मिता के मूल में विषसेचन ही रहा है क्योंकि कुविवाहों एवं संस्कारलोप की अधिकता के कारण हिन्दुओं का नेतृत्व उनके हाथ में चला गया जो वेद एवं तन्मूलक विधिविधानों के प्रति अनास्थावान् रहे। उन्होंने ही देश का विभाजन करने में सहायता की तथा नया संविधान बनाया। विदेशी मिशनरियों को धर्मपरिवर्तन करने-कराने का अधिकार मानवाधिकार हो गया क्योंकि 'धर्म' व्यक्तिगत धर्मपरिवर्त्तन का अधिकारी और मिशनरियों का कर्त्तव्य बन गया है और राजनीतिक संरक्षण है ही। इनके साथ संसर्ग पातित्य के अतिरिक्त और क्या है? अर्थ एवं काम की सापेक्षता तथा धर्मनिरपेक्षता परस्परान्वयी हैं। हानि का भय, लाभ का लोभ एवं मोह ही पातित्यप्रयोजक हैं। वर्ण, जाति या धर्म नहीं। नवीनशास्त्र

के निर्माण की चर्चा ब्राह्मणों के शास्त्रप्रतिपादित सनातन जन्मसिद्ध धार्मिक एवं आर्थिक अधिकार को समाप्त करने का पूँजीवादी षड़यन्त्र तो है ही, परोक्षरूप से विदेशी एवं विधर्मीशक्तियों के कुचक्र में सहभागिता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वेद का मन्त्र है—

'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्यो महारथो जायताम्।।'

भगवान् मनु का कथन है—

'नाब्रह्म क्षत्रमृद्ध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।''

अत: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र माता-पिता से उत्पन्न ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ही आर्य एवं हिन्दू हैं तथा भारतवर्ष ही उनकी मातृभूमि है। नयाशास्त्रनिर्माण वेदद्रोह है। अत एव राष्ट्रदोह तथा नास्तिकता है। समुद्रलंघन से दृष्ट हानि भले न हो किन्तु महापातकियों से संसर्ग की सम्भावना है ही। अत: इस राष्ट्र की ऋण-रोग-दरिद्रता का निराकरण मनु एवं चाणक्य के अनुसार स्वराज्य में ही सम्भव है श्वराज्य में नहीं।

'प्रेमपत्रम्' में बहुत कुछ है। यह काव्यगुणों से ओतप्रोत दिग्भ्रान्त हिन्दूसमाज को 'प्राची' के आलोक से प्रकाशित करे, इसी सद्भावना के साथ, पीठाचार्य को उत्तमोत्तम मन्दाक्रान्ताकाव्यरचना के लिए धन्यवाद।

सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय में साहित्यविभागाध्यक्ष पद को विभूषित करने वाले हमारे सुहृद्वर्य प्रो. छोटेलाल त्रिपाठी जी और ज्योतिषविभाग के आचार्य पं. प्र. श्री सदानन्दशुक्ल जी ने जिस उदात्तभावना से इस काव्य का अनुशीलन करके शुभाशंसन प्रदान किया है उसके लिए हम कृतज्ञ हैं। दोनों आचार्य अपनी अध्यापनविधा में प्रथितयशस्क हैं। पूरे भारतवर्ष में न्यायशास्त्र का वितान करने वाले पण्डितप्रकाण्ड श्रीमत् प्रो. वशिष्ठत्रिपाठी गुरुजी का जो सुझाव मिलता रहता है उसके लिए भी हम कृतज्ञ हैं।

सनातन धर्म के प्रतीक के रूप में व्यवस्थित भगवती भागीरथी के अविरल प्रवाह के लिए राष्ट्रव्यापी अभियान चलाने वाले अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरुशङ्कराचार्य स्वामिस्वरूपानन्दसरस्वती जी महाराज के ज्योतिष्पीठ के भावी शङ्कराचार्य के रूप प्रस्तावित विद्वदनुमन्य श्री अविमुक्तेश्वरानन्दसरस्वतीजी महाराज के प्रति पूर्णतः प्रणति-निवेदन है। विरक्तशिरोमणि स्वामिश्रीसर्वेश्वरदास जी महाराज जी की आशीः भी हमारे लिए प्रेरणादायक है। उनके प्रति भी प्रणति है।

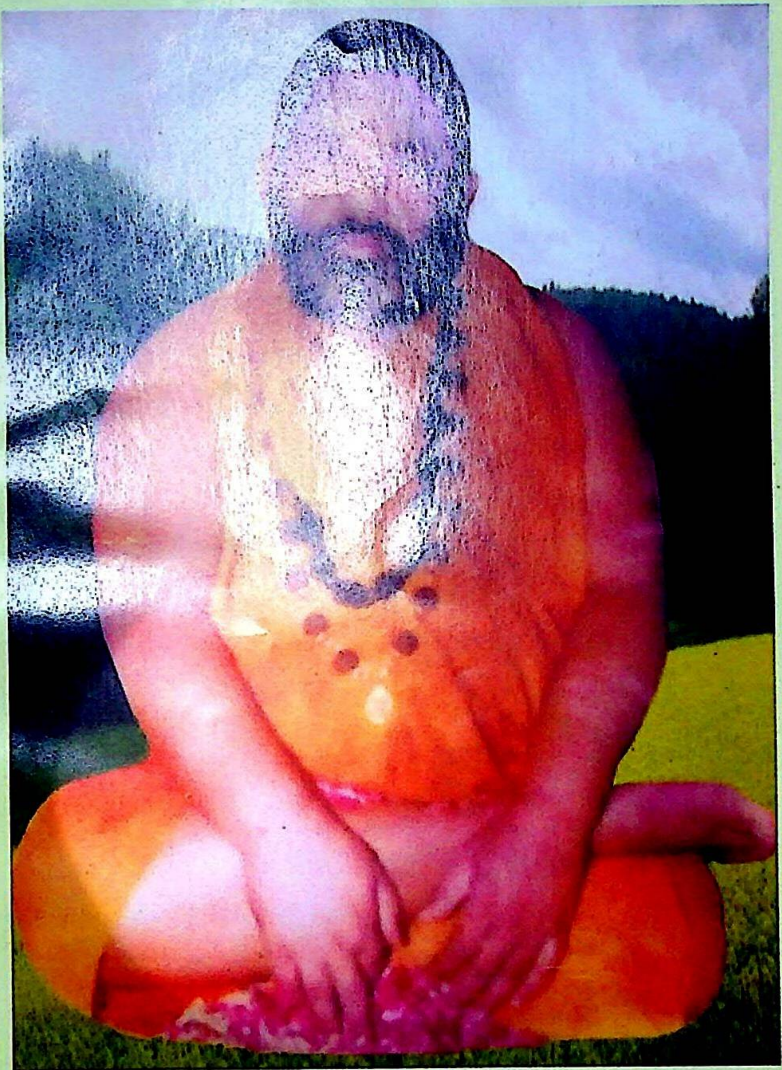
इसी कड़ी में श्रीमद्हथियाराममठ के तपस्वी सन्तमहामण्डलेश्वर श्रीमद्भवानीनन्दनयति जी महाराज और अलवर के श्रीरामानुजाचार्य स्वामि श्रीकौशलेन्द्र प्रपन्नाचार्य 'फलाहारी जी' के प्रति भी प्रणति निवेदन है। दोनों महापुरुषों का दुर्व्याख्याओं और नूतनशास्त्र का समर्थन करने वालों के प्रति अपार क्षोभ हमें अपने कार्य के प्रति सतत प्रेरणा देता रहता है। श्रीविद्यासाधनापीठ के आचार्य और धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्री जी की श्रीविद्या का सत्पात्रों में यथाविधान वितान करने वाले पं. प्र. श्रीसीताराम कविराज जी के हम ऋणी रहेंगे। श्रीविद्या के प्रति उनसे हमें भी पूर्णतः दिशानिर्देश प्राप्त हुआ है।

हमारे पण्डितवर्य श्रीहरनारायणपण्ड्या जी और पं. प्र. प्रो. आञ्जनेयशास्त्री जी के प्रति भी सहयोग के लिए धन्यवाद है।

अन्त में उन तरुण भविष्णुओं को भी आशीर्वाद है जो हमारी समिति का प्रसार कर रहे हैं। इनमें डॉ. महेशकुमार तिवारी, कश्यप त्रिवेदी, सनोज तिवारी तथा मृत्युञ्जय पाण्डेय मुख्य हैं।

डॉ. गिरीश दत्त पाण्डेय

(डॉ. गिरीश दत्त पाण्डेय)
संरक्षक
भारतीयआर्यमर्यादाविज्ञानसमिति
अधर्मनिरपेक्षधाम,
गंगापुर बाजार, वाराणसी



अगाधगाम्भीर्यगुणैकभाजो
भूमैकविद्याविलसद्विराजः।
जयन्ति तीर्थास्पदसन्ततश्री-
स्वाम्यच्युतानन्दपदप्रवालाः।।३।।



श्रीमद्गजाननगुरौ गहनानुरागान्
दत्ताध्वना ध्वनितधूर्जटिधीरधर्मान्।
रङ्गावधूतरचनाघटनागुणौघान्
श्रीविश्वनाथचरणान् प्रणुमोऽवधूतान्।।५।।

प्रेमपत्रम्

षड् युक्तीस्ताः श्रुतिसमुदिता आकलय्य प्रसूतां
दृष्ट्वा सम्यक् सदयहृदयैरत्र पातित्यपेटीम्।
प्रेमाचार्यैः सुललितपदं पत्रमेकं सुधाभिः
सिक्तप्रायं फलमिव वरं प्रेषितं सौमनस्यात्।।१।।

प्रथम श्लोक से काव्यरचना की पृष्ठभूमि का उपक्रम किया जाता है। श्रुतियों से निर्गत लोकप्रसिद्ध छः प्रकार की युक्तियों का आकलन करके उत्पादित पातित्यपेटिका का ठीक से निरीक्षण करके दया से परिपूर्ण हृदय वाले श्रीप्रेमाचार्य जी ने सौमनस्य से ललित पदों के विन्यास वाले एक पत्र को प्रेषित किया जो मेरी दृष्टि में अमृत से सींचे गये श्रेष्ठ फल जैसा ही प्रतीत हुआ।।१।।

पत्र के प्रभाव का वर्णन करते हैं—

लब्ध्वा तेषामपरहृदयं चोद्यगर्भं गभीरं
हर्षोल्लासोच्छ्वसितमिव मे मानसं भूरि जातम्।
प्रेम्णस्तेषामतिशयवशादीशशेषोऽपि जीव-
स्तत्संबन्धाद् व्यपगत इव क्वापि लीनो मदीयः।।२।।

उनके दूसरे हृदय उस आक्षेपपूर्ण गम्भीर पत्र को प्राप्त करके मेरा मन आनन्दोल्लास के अतिरेक से संपृक्त हो गया। श्रीप्रेमाचार्यजी के प्रेम की अधिकता के कारण मेरा जीव परमेश्वर का शेष (अंश, सेवक) होता हुआ भी मानों परमेश्वर के सम्बन्ध से विच्छिन्न हुआ कहीं शून्य में विलीन हो गया। रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार।।२।।

पुनः भङ्ग्यन्तर से उस पत्र के सुखप्रदातृत्व का ही वर्णन करते हैं—

घर्मग्लाने वपुषि पतितं पुष्पमाभ्रं प्रगाढे
स्फोटव्राते निहितमतुलं भेषजं रोपणाय।
कामार्तायाः कुचकलशयोः पाणिपद्मं प्रियस्य
पत्रं तेषां सुखयितुमलं तद् विचित्रं विभाति।।३।।

निदाघ (धूप) से क्लान्त शरीर में गिरा हुआ मेघपुष्प अर्थात् वर्षा का जल, गहरे घावों में उसे पूरा करने के लिए लगायी गयी दिव्य औषधि और काम से पीड़ित कामिनी के स्तनकलशों में विद्यमान प्रियतम का करकमल है वह प्रेमाचार्यजी का पत्र जो विचित्र दिखायी देता है तथा सुख प्रदान करने में पर्याप्त है। रूपक अलङ्कार।।३।।

यत् सौजन्यं प्रथितममितं स्फीतबुद्धे! त्वयैवं
दृष्टान्तस्तद् भवति भुवने भव्यताभैरवाणाम्।
सौख्यं तद् वै श्रुतिषु गदितं प्राप्य योगेश्वराणां
सर्वा भूमी र्विचरतु भवानित्यहं कामयेऽत्र।।४।।

हे निर्मल बुद्धि वाले प्रेमाचार्य जी महाराज! इस प्रकार से पत्र प्रेषित करके आपने जिस पर्याप्त सुजनता का विस्तार किया है वह सम्पूर्ण भुवन में भव्यतारूप भीषणता का दृष्टान्त होगा। आपके पत्र में ऐसी भव्यता विराजमान है जो पदे-पदे भीषण लगती है फिर भी इसमें आपका सौजन्य ही मेरी दृष्टि में प्रतीत होता है, इस युक्ति से यही ध्वनित होता है कि कवि की अपकारियों में भी उदार दृष्टि है। अत एव हे आचार्यवर्य! आप श्रुतियों में प्रतिपादित योगेश्वरों के उस अनुभवैकगोचर सुख को प्राप्त करके सारी भूमि में विचरण करें, यही मेरी कामना है।।४।।

प्रसङ्गतः कुशल पूछते हैं—

गेहे सर्वं कुशलमथवा म्लेच्छजातीयपुंसां
तत्तद्देशेष्वपि निवसतां तद्गतानां नराणाम्।

यां वै द्रष्टुं त्वरितमनसो यान्ति पारेसमुद्रं
क्षेमं तस्या ललितललनाप्रोल्लसल्लोलतायाः।।५।।

आपके घर में या अन्यत्र म्लेच्छ जाति वाले पुरुषों का हर तरह से कुशल है न? पृथ्वी के उन उन देशों में निवास करने वाले उन पुरुषों का भी कुशल है जो म्लेच्छों से तादात्म्य स्थापित कर लिये हैं? जिसे देखने के लिए त्वरा से युक्त मन वाले पुरुष समुद्र के पार जाते हैं, वहाँ की सुन्दरियों में विकसित उस चञ्चलता का कल्याण हो रहा है न? इस प्रकार के प्रश्न का औचित्य शास्त्रीजी के विश्वभ्रमण को लेकर है।।५।।

पाश्चात्यों के वृत्तान्त से अपनी मनःस्थिति को प्रकट करते हैं—

पाश्चात्यानां निवसतिततिं सेवमाना जनास्ते
तत्रत्यां तां स्थितिमिह यदा वर्णयन्त्यात्मतुष्ट्या।
श्रुत्वा सर्वं विचलति मनो मित्र! तूर्णं ममापि
धर्मज्ञानां समयनिचयः किन्तु तत् संरुणद्धि।।६।।

हे मित्रवर्य! पाश्चात्यों की निवासभूमियों का सेवन करने वाले यहाँ के वे वे जन जब अपने सन्तुष्ट मन से वहाँ की उस विलक्षण स्थिति का यहाँ आकर वर्णन करते हैं तो उनकी सारी बात सुनकर शीघ्र ही मेरा भी मन विचलित हो जाता है किन्तु कलि के आदि में इकट्ठे हुए धर्मज्ञ पुरुषों का मर्यादाबन्ध उसे रोकता है। धर्मज्ञों का समयबन्ध, जिसे वेदों के समान ही प्रमाण माना गया है वह यदि नहीं होता तो मैं भी पृथ्वी के हर भाग में विचरण करता किन्तु क्या करूँ? वह मर्यादाबन्ध मुझे इस कार्य की अनुमति नहीं देता, यह अभिप्राय है।।६।।

धर्मज्ञों के समयबन्ध की अलङ्घनीयता का प्रतिपादन करते हैं—

को वा शक्तः श्रुतिपथमतिस्तं परित्यज्य यातुं
स्वेच्छा वृत्तिर्भवति हि सदा रौरवे पातनाय।
अग्रे स्वल्पं सुखमिव सदा भाति यत् तद् विपाके
दुःखोदग्रं विषमिति विभुर्वासुदेवो बभाषे।।७।।

वेदों के द्वारा प्रतिपादित धर्ममार्ग में जिसकी बुद्धि लगी हुई है, ऐसा कौन पुरुष होगा जो धर्मज्ञों के समय की अवहेलना करके समुद्रलङ्घन करके म्लेच्छादि देशों में जाने के लिए समर्थ होगा? सर्वथा यह कार्य वही कर सकता है जिसकी बुद्धि धर्म से दूर हो गयी है, यह अभिप्राय है। शास्त्र का अतिक्रमण स्वेच्छाचारिता होती है और वह पुरुषों को रौरव नरक में गिरा देती है। यह मेरा ही नहीं प्रत्युत भगवान् श्रीकृष्ण का मत भी है कि जो पहले अत्यल्प सुख की तरह सदा प्रतीत होता है वह परिणाम में भीषण दुःख वाला विष होता है। गीता के अठारहवें अध्याय में भगवान् ने ऐसा कहा है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत् तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।

(गीता १८।३८)

अतः अनर्थानुबन्धी कर्म का त्याग ही उचित है।।७।।

शास्त्री जी के द्वारा प्रतिपादित समुद्रलङ्घन की अधर्मता में प्रमाणाभाव का उत्तर देते हैं—

ब्रूषे यत् त्वं जलनिधिसमुल्लङ्घने नास्ति मानं
नूनं तत् ते प्रथयति तरां बुद्धिवैशद्यमेव।
यस्मिन्नर्थे भवति भगवन्! शिष्टगर्हा गरिष्ठा
तत्त्याज्यत्वेऽनुमितिविषयश्चोदनैवास्ति मूलम्।।८।।

यह जो आप कह रहे हैं कि समुद्रलङ्घन के प्रतिषेध में कोई प्रमाण ही नहीं है वह आपका कथन आपकी बुद्धि की स्वच्छता

का आत्यन्तिक विस्तार कर रहा है। सचमुच आपकी बुद्धि स्वच्छ है जो विद्यमान प्रमाण का भी अनुसन्धान नहीं कर पा रही है। यह सोपहास युक्ति है जो विपरीत अर्थ में परिणत हो जाती है। हे भगवन्! प्रेमाचार्यजी महाराज! क्या आपको इस न्याय का परिज्ञान नहीं है कि जिस विषय की शिष्ट (वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करते हुए वेदबोधित धर्मों का अनुष्ठान करने वाले) अत्यधिक निन्दा करते हैं उस विषय के त्याग में अनुमान का विषय चोदना अर्थात् वैदिक विधि और प्रतिषेध ही मूल में है। कहा भी है तन्त्ररत्न आदि ग्रन्थों में आचार्यों ने—

'कलञ्जभक्षणब्राह्मणहननाद्यनन्तरं हि शिष्टा विगर्हयन्ति पतितोऽयं कर्मफलेभ्य इति। शिष्टवर्जनमात्रेणैव दोषपरिणाहता गम्यत इति।'

इसीलिए उस विषय में प्रमाणाभाव का कथन भ्रान्ति-मूलक ही है॥८॥

इसके पश्चात् सामान्य अर्थ वाली श्रुतियों के क्वचिद् विशेष अर्थ में संकोचनन्याय को कहते हैं—

श्रौतस्मार्तेष्वतिशयधिया कर्मसु व्यग्रचित्ता
यत्कृत्याद् वै निरयफलकात् सर्वदैवोद्विजन्ते।
तस्मिन्नेव श्रुतिसमुदयः सर्वसाधारणोऽपि
प्रायः सूत्रे मणिगण इवोद्गुम्फ्यते शास्त्रकारैः॥९॥

श्रौत और स्मार्त कर्मों में अत्यन्त आदरभाव से सम्पन्न होकर व्यग्रचित्त वाले शिष्ट नरक फल वाले जिस कृत्य से सदा भयग्रस्त रहते हैं उसी कृत्य के प्रतिषेध में शास्त्रकार उन सर्वसाधारण वैदिक वाक्यों का समन्वय वैसे ही करते हैं जैसे सूत्र में मणियों को गूँथा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि 'नान्तमियात्, न प्रत्यन्तमियात्', इत्यादि वचनों का विषय अन्य भी हो सकता है तथापि शिष्ट यदि समुद्रलङ्घन कर्म से भयभीत होते हैं तो समुद्रलङ्घन के प्रतिषेध में

भी उक्त वचनों को स्वीकार कर लिया जायेगा। पीछे कह ही दिया गया है कि शिष्ट जिस कर्म की भर्त्सना करते हैं वह वेदों से प्रतिषिद्ध ही है। यदि प्रतिषिद्ध है तो सर्वसाधारण श्रुतियों का भी वह विषय है। उपमालङ्कार॥९॥

अब स्मृतियों के ऊपर शास्त्रीजी के उपहास और उनके द्वारा समर्थित सामयिक व्याख्या के प्रस्ताव का निराकरण करते हैं—

श्रेयोमार्गप्रकटनविधौ शिष्टविद्वन्मनीषा-
भूषाभूताः स्मरणततयः किन्न सन्ति प्रवीणाः।
व्याख्यां यासामकृषत बुधा न्यायगर्भामिदानीं
नूत्नव्याख्या कथमिव भवेद् भोगभुग्नैर्मनुष्यैः॥१०॥

शिष्ट विद्वानों की बुद्धि में अलङ्कार की तरह व्यवस्थित उनकी स्मृतिपरम्परायें क्या कल्याणकारी मार्ग को प्रकट करने में समर्थ और प्रवीण नहीं हैं कि आप उनके उपहास में तल्लीन हो गये हैं। शिष्ट विद्वानों का अलौकिकविषयक स्मरण वेदमूलक ही हो सकता है, ऐसा मीमांसा के स्मृत्यधिकरण में प्रसाधित है। फिर उनके ऊपर अनाश्वास कैसा? इसीलिए पातित्यपेटिका में स्मृतियों को वेदमन्त्रों की तरह प्रमाण मान लिया गया है, यह प्रेमाचार्यजी का वचन शास्त्रानभिज्ञता के ही कारण है। वेदमन्त्रों का प्रामाण्य प्रयोगनिष्ठ पदार्थों के स्मरण में माना गया है न कि धर्माधर्म के अवबोधन में। अतः उन्हें यह लिखना चाहिये कि विधिप्रतिषेधों के समान प्रमाण मान लिया गया है। हमारे सकलविद्याओं के विद्वान् मीमांसान्यायों से अनुप्राणित व्याख्या जिन स्मृतियों की कर दिये हैं उनकी नयी व्याख्या उन पुरुषों के द्वारा कैसे सम्भव है जो भोगों में ही भुग्न अर्थात् टेढे हो गये हैं। सर्वथा नयी व्याख्या के समर्थक भोगासक्त ही हैं जो स्मृतियों को भोगपरक कर देना चाहते हैं, यह अभिप्राय है। फलतः सर्वथा नूतन व्याख्या सम्भव ही नहीं है, यह तथ्य ध्वनित हुआ॥१०॥

जो कार्य पहले नास्तिक करते थे उसे आज अशास्त्रीय संन्यासी और कुछ वैष्णव भी करने लगे हैं, इस तथ्य का उद्घाटन करते हैं—

कष्टं लौकायतिकहतकैर्दृष्टहेतुप्रयोगै-
र्लोकातीतं यदिह कितवैर्दूषितं धर्मजातम्।
नूनं तद् वै कपटनिपुणा ऊर्ध्वपुण्ड्रास्त्रिपुण्ड्राः
स्रोतोभङ्गैः सरितमिव ते दुर्भगा दूषयन्ति।।११।।

यह बहुत बड़े कष्ट का विषय है कि चार्वाकगणों ने अलौकिक धर्मों में दृष्ट हेतुओं को दिखाकर उन्हें प्रदूषित किया है। वही कार्य आज कपट में निपुण ऊर्ध्व पुण्ड्र और त्रिपुण्ड्र धारण करने वाले कर रहे हैं। नदियों के प्रवाहों का विच्छेद करके जैसे उन्हें दूषित किया जा रहा है वैसे ही आज दुरैश्वर्य से सम्पन्न अपने महात्मा ही धर्म को प्रदूषित करने लग गये हैं। ऐसे में भारतीय श्रौतपरम्परा कैसे सुरक्षित रह सकती है, यह अर्थ ध्वनित होता है।

नास्तिकों ने धर्म में दुष्ट हेतुओं को प्रदर्शित करके उसे दूषित किया है, ऐसा वार्तिककार ने तन्त्रवार्तिक में कहा है। उनके ये वचन आकलनीय हैं—

लौकायतिकमूर्खाणां नैवान्यत् कर्म विद्यते।
यावत् किञ्चिददृष्टार्थं तद् दृष्टार्थं हि कुर्वते।।
वैदिकान्यपि कर्माणि दृष्टार्थान्येव ते विदुः।
अल्पेनापि निमित्तेन विरोधं योजयन्ति च।।
तेभ्यश्चेत् प्रसरो नाम दत्तो मीमांसकैः क्वचित्।
न हि कञ्चन मुञ्चेयुर्धर्ममार्गं हि ते तदा।।

(तन्त्रवार्तिक, १।३।३।४०-४२)

इसका अभिप्राय यही है कि यदि चार्वाकों को मीमांसकों के द्वारा थोड़ा भी अवकाश दे दिया गया तो वे कोई भी धर्ममार्ग

शुद्ध नहीं छोड़ेंगे। आज मीमांसकों के लिए भी कठिन चुनौती है क्योंकि साधु ही वह कार्य करने लग गये हैं।।११।।

शास्त्री जी के द्वारा धर्म में की जाने वाली हेतूत्प्रेक्षा की निःसारता को कहते हैं—

हेतूत्प्रेक्षाकरणपटुभिः पादितं यद् भवद्भिः
फल्गुत्वात् तत् कवकमिव किं किंफलायैव न स्यात्।
अस्मिन् तन्त्रे जघनचपलादुष्टयोषिद्भटीनां
संख्यावृद्धिः कथमिव भवेत् स्वच्छतापादनाय।।१२।।

धर्म और अधर्म के विषय में दृष्ट हेतुओं के उत्प्रेक्षण में निपुण आपने जो कुछ भी कहा है क्या वह अत्यन्त निःसार होने के कारण कवक (कुकुरमुत्ता) के समान कुत्सित फल के लिए नहीं होगा? अर्थात् होगा ही। इस प्रजातन्त्र में गुह्यचपल और दुष्ट स्त्री-भटों (पुलिस) की संख्यावृद्धि स्वच्छता लाने के लिए कैसे हो सकती है। यहाँ 'भटी' शब्द से ही स्त्रीत्व अर्थ का बोध हो जायेगा फिर भी स्त्रीवाचक 'योषित्' शब्द का प्रयोग इस अर्थ की व्यञ्जना के लिए है कि कोई भी स्त्री पुलिस आदि विभागों में भले ही भर्ती हो जाय किन्तु वह अपने स्त्रीत्व धर्म से वञ्चित नहीं हो सकती। जैसे स्त्री-भटों से स्वच्छता सम्भव नहीं वैसे ही आपके दृष्टार्थ हेतुओं से स्वच्छता सम्भव नहीं, यह अभिप्राय है। उपमा और दृष्टान्त अलङ्कार।।१२।।

शास्त्री जी की वैज्ञानिक व्याख्या के खण्डन के लिए युक्तियों के सद्भाव को कहते हैं—

विज्ञानोत्था भवति रचना भूतये भारतस्य
मत्वैवं त्वं प्रलपसि सखे! किन्न जानासि तथ्यम्।
युक्त्याभासच्छलसमुदितानुद्धतान् तर्कदुष्टान्
भेत्तुं सर्वान् प्रभवति सदा न्यायनारायणास्त्रम्।।१३।।

हे मित्र! विज्ञान से विनिर्गत रचना भारत की भव्यता के लिए होगी, ऐसा मानकर आप प्रलाप कर रहे हैं। क्या आपको यथार्थ पक्ष का पता नहीं है? वस्तुतः जो युक्तियाँ नहीं हैं, प्रत्युत युक्तियों जैसी लगती हैं ऐसे युक्त्याभासों के छल से पैदा हुए उद्धत तर्करूपी दुष्टों का भेदन करने के लिए सदैव न्यायरूपी नारायणास्त्र समर्थ है। नारायणास्त्र उद्धत दुष्टों का ही विनाश करता है। वैसे ही तर्काभासों का विनाश न्याय ही करते हैं। रूपकालङ्कार॥१३॥

अब तीन श्लोकों से शिष्टों की न्यायानुगामिता को प्रस्तुत करते हैं—

ब्राह्मज्योतिस्ततिभिरनिशं हृद्यया विद्ययापि
विश्वेशार्चाविमलमतिभिर्भूषयाऽनिन्द्ययापि।
साक्षाद् रामानुज इव गुरुर्देशिको वासुदेवो
धर्मोत्सादेऽप्रतिमकपटान् हैतुकान् न्यक्करोति।।१४।।

ब्रह्मसम्बन्धिनी ज्योतिपरम्पराओं से और अनिन्दनीय आचाररूप अलङ्कृति से तथा भगवान् नारायण की आराधना से निष्पन्न अपनी निर्मल बुद्धि से एवं हृद्य विद्या से जो आज साक्षात् रामानुजाचार्य के समान जगद्गुरु हैं वे देशिक श्रीवासुदेवाचार्य 'विद्याभास्कर' जी महाराज उन हेतुदर्शियों को तिरस्कृत ही करते हैं जो धर्म के विनाश में अतुलनीय कपट से परिपूर्ण हैं। यहाँ पूर्वार्ध से शिष्टत्व को प्रकाशित किया गया है। उपमालङ्कार॥१४॥

अस्मिन्नर्थे सकलविबुधव्याख्यया सुष्ठु तुष्टा
रुष्टाश्छद्मग्रहगणभृतान् प्रत्यहो विश्ववन्द्याः।
प्रत्यक्तत्त्वाहितमतितया धूर्जटिं तं जुषाणा
बुद्धे भेदं किमु विदधते विश्वनाथावधूताः।।१५।।

स्मृतियों में पूर्वाचार्यों द्वारा की गयी व्याख्या से इस विषय में सन्तुष्ट रहने वाले तथा कपटरूपी ग्रहों को धारण करने वालों

के प्रति रुष्ट रहने वाले विश्ववन्द्य महापुरुष जो सर्वान्तर्यामी ब्रह्मतत्त्व में ही तल्लीन रहते हुए उस परमेश्वर सदाशिव का भजन करते रहते हैं ऐसे श्री विश्वनाथावधूतजी महाराज क्या ज़नता में बुद्धिभेद पैदा करते हैं? कथमपि नहीं। न्यायोचित व्याख्यानुसार ही वे सकल राष्ट्र को धर्म में प्रेरित करते हैं, यह अभिप्राय है।।१५।।

धर्माख्येऽत्राप्रतिमविषयेऽलौकिकत्वं ब्रुवाणाः
पूर्वाचार्यैः स्मृतिषु विहितां वृत्तिमन्तर्दधानाः।
भूमानन्देऽविरतरतयः सिद्धिमन्तो महान्तः
सन्त्येवैवं बुधबहुमता अच्युतानन्दतीर्थाः।।१६।।

अतुलनीय धर्म के विषय में अलौकिकता को कहने वाले और स्मृतियों में पूर्वाचार्यों की व्याख्या को ही अपने हृदय में धारण करने वाले तथा भूमानन्द (श्रीगुरुजी का नाम और प्रत्यक्चैतन्य परब्रह्म) में विरत न होने वाली रति (प्रीति) से सम्पन्न, सिद्धियों से परिपूर्ण महापुरुष श्रीअच्युतानन्दतीर्थजी महाराज विराजमान हैं ही जो विद्वद्गणों को अभीष्ट हैं। यदि अनादि परम्परानुसारिणी व्याख्याओं के वे विरोधी होते तो विद्वानों के प्रिय क्यों होते। विद्वद्बहुमत वही हो सकता है जो वस्तुयथार्थवादी आप्त पुरुष हो।।१६।।

अब श्रीप्रेमाचार्यशास्त्रीजी के द्वारा स्वीकृत उन्मार्ग के प्रयोजन को पूछते हैं—

विद्यास्थानेष्विह खलु यथा वर्तते सद्विचारो
विद्वद्वृन्दैर्नयपरिचितैस्तन्यतेऽसौ तथैव।
शुद्धां धारां बुधपरिणुतां मित्र! नैसर्गिकीं तां
त्यक्त्वौचित्यं घटयसि कथं शिष्टगर्ह्योत्पथस्य।।१७।।

चार वेद, व्याकरण आदि षडङ्ग, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र (स्मृतियाँ), ये चौदह विद्यास्थान हैं जिन्हें शास्त्र कहते हैं और जिनसे धर्म-अधर्म का ज्ञान प्राप्त होता है। कहा भी है—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्याश्चैताश्चतुर्दश।।
पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।

यहाँ पर इन विद्यास्थानों में जैसा सद्‌विचार होता है, न्यायों के परिचित विद्वान् अपनी व्याख्याओं के द्वारा उसका वैसा ही विस्तार करते हैं। वे परम्पराबाह्य कुछ भी नहीं करते। हे मित्र! विद्वानों से समादृत स्वाभाविक उस विशुद्ध शास्त्रीय धारा का परित्याग करके आप उस उन्मार्ग के औचित्य के निरूपण में क्यों तुल गये हैं जिसकी शिष्ट निन्दा करते हैं। शिष्टविगर्हित मार्ग के औचित्य का समर्थन आप जैसे शास्त्रार्थपञ्चानन को शोभा नहीं देता, यह अभिप्राय है।।१७।।

शास्त्रीजी के शिष्टग्राह्य स्मृतियों के प्रति द्वेष के हेतु को पूछते हैं—

शिष्टग्राह्यस्मृतिषु बहुशः किंकृता द्विष्टता ते
तद्‌वाच्यत्वे प्रसरति तरां सोपहासं वचो यत्।
अद्यत्वेऽपि स्फुरितमिहिरप्रैधमानप्रभाया
जन्मद्वेषी भवति कुहकप्रीतिमान् कौशिकोऽत्र।।१८।।

जो शिष्ट त्रैवर्णिकों की स्मृतियाँ हैं उनको प्रमाण के रूप में शिष्ट स्वीकार करते आ रहे हैं और ऐसे ही शिष्ट धर्म और अधर्म के अवबोधन में स्वीकरणीय भी हैं। अतः उन स्मृतियों में किसी भी आस्तिक का द्वेष नहीं होना चाहिये फिर भी शास्त्रीश्रीप्रेमाचार्यजी का उनमें द्वेष है। आखिर उनका द्वेष किस कारण है? यह बात प्रथम चरण से कही गयी है। उसी चरण से उत्तर भी कह दिया गया है—किंकृता। अर्थात् उनके द्वेष के मूल में कोई कुत्सित कारण ही हो सकता है। भला उन्नत कारणों से कौन स्मृतियों से द्वेष

करेगा? किसी स्थलविशेष में द्वेष नहीं है, अपितु अनेक स्थलों में है, इस बात को ध्वनित करने के लिए कहा है—'बहुशः'। द्वेष की परिपुष्टि में द्वितीय पाद है। इसीलिए आपका द्वेष परिलक्षित हो रहा है कि स्मृतियों के द्वारा प्रतिपादित धर्मों में आपकी उपहासों से भरी वाणी फैल रही है। अथवा आपका द्वेष स्वाभाविक है क्योंकि आज भी यहाँ पर अन्धकार से प्रेम करने वाला कौशिक (उलूक) विकसित सूर्य की फैलने वाली प्रभा का जन्म से ही द्वेषी होता है। दृष्टान्तालङ्कार॥१८॥

स्मृतियों की गुणवत्ता के ख्यापन के लिए अस्पृश्यता के उदात्त हेतु को प्रकट करते हैं—

शूद्रादीस्ँतान् पतितनिचयान् म्लेच्छहूणादिकाँश्च
धर्मायैव प्रकृतिकरुणाशालिनो नो स्पृशन्ति।
तेनैवात्र द्रविणवनिता रक्षिताः सन्ति तेषां
भीतिस्तेभ्यो भवति सततं ये च खादन्ति तत्र।।१९।।

स्वभाव से ही करुणा से परिपूर्ण शिष्ट धर्म के लिए ही शूद्रों का और पतितसमुदाय म्लेच्छहूण आदि का स्पर्श नहीं करते। उसी अस्पृश्यता के कारण यहाँ पर उनकी सम्पत्ति और स्त्रियाँ सुरक्षित रहती हैं। इनको उन्हीं लोगों से भय हो सकता है जो समतावादी उनके यहाँ खाते हैं। जो शिष्ट उनके धन के प्रतिग्रह में और स्पर्श में चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्त करते हैं उनसे किसी भी तरह अस्पृश्यों का धन और उनकी स्त्रियों की प्रतिष्ठा अपहृत नहीं हो सकती। शास्त्र का अतिक्रमण करके उनके यहाँ जो खा रहे हैं वे कुछ भी अकार्य कर सकते हैं, यह तात्पर्य है॥१९॥

इसी अर्थ में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—

प्रायः सर्वैरपि परिहृता धर्मतो याऽन्त्यजाति-
स्तद्गेहे न क्वचिदपि जनैः श्रूयते स्तेयकर्म।

हन्त! त्वादृग्बुधवरगणास्पृश्यतावारकाणां
दीर्घोद्योगाद् द्रविणसहितं लुप्यते तत्सतीत्वम्।।२०।।

आज भी अन्त्यजजाति चाण्डाल आदि को प्राय: सभी वर्ग स्वयं से दूर रखते हैं। उनके घर में कभी भी चोरी की बात नहीं सुनायी देती। उनका परिवर्जन यदि नहीं होता तो वहाँ भी चोरी होती। बहुत कष्ट की बात है कि आप जैसे अस्पृश्यता का निवारण करने वाले विद्वानों के भारी उद्योग के चलते उनके धन के साथ उनकी स्त्रियों का सतीत्व भी लुप्त हो जायेगा। यदि अस्पृश्यता के कारण धन और नारियों का सतीत्व सुरक्षित है तो अस्पृश्यता गुण ही है, दोष नहीं, यह तात्पर्य है।।२०।।

अस्पृश्यता त्याग का कारण नहीं है, इस तथ्य को दृष्टान्त से प्रकट करते हैं—

ज्येष्ठभ्रात्राऽनुजसहचरी स्पृश्यते किं महात्मन्!
किन्तेनासौ गृहपतिजनैस्त्याज्यतेऽशिष्टतेव?
इत्येवं वा स्मृतिषु बहुलं दृश्यतेऽस्पृश्यता या
तस्या मूलं स्मर इव सृतेरिष्यते चोदनैव।।२१।।

हे महात्मन्! क्या ज्येष्ठ भ्राता अपने छोटे भाई की पत्नी का स्पर्श करता है? उसके उस अस्पर्श से क्या घर के वृद्ध जन अशिष्टता की तरह उसका त्याग करवाते हैं? वृद्धजन घर के कनिष्ठों को अशिष्टता का त्याग करने के लिए प्रेरित करते हैं। वैसे ही अनुज की पत्नी के त्याग की बात क्या करते हैं? अर्थात् नहीं करते। इसी तरह स्मृतियों में प्राय: जो अस्पृश्यता दिखायी देती है उसके मूल में वैसे ही चोदना (वैदिकवचन) है जैसे संसार के मूल में काम है। काम के कारण ही युगल के संमिश्रण से सृष्टि की प्रक्रिया चलती है। अस्पृश्यता भी नि:श्रेयस में होने वाली प्रतिबन्धकता को दूर करने के लिए है, यह अभिप्राय है। उपमा अलङ्कार।।२१।।

भारतीय संविधान की तरह स्मृतियों के शोधन की असम्भाव्यता को कहते हैं—

क्वातिच्छिद्रैर्विलसितमहो संविधानं क्व चाप्त-
मेधोन्मेषात् प्रकटमहिम-प्रस्फुरद्धर्मशास्त्रम्।
कस्माद् बुद्धिर्भवति विकला शोधनायैव तस्य
पुंसां तुच्छायतिरतिजुषां मित्र! नाहं विजाने।।२२।।

कहाँ अतिशय छिद्रों (दोषों) से सुशोभित होता हुआ संविधान और कहाँ आप्त पुरुषों की मेधा के विकास से प्रकट महिमा से अत्यन्त प्रस्फुरित धर्मशास्त्र। हे मित्र! संविधान के समान उन धर्मशास्त्रों के संशोधन के लिए तुच्छ उत्तरकालिक भविष्य में प्रेम करने वाले पुरुषों की बुद्धि क्यों विकल हो रही है? इसे मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। निदर्शनालङ्कार।।२२।।

इन सारे कार्यों में अज्ञान का अन्धापन है, यह प्रकट करते हैं—

मत्तस्त्रीणामधरमदिरास्वादनेषु प्रवृत्तिः
किं वा ताभिः सममतितरां गाढरत्यादिभुक्तिः।
आप्तोक्तावप्यसहमतिभिर्दुर्दमा दुष्टदृष्टि-
र्मोहान्धानामहह सुपथो जायते वै विरक्तिः।।२३।।

मद से युक्त स्त्रियों की अधरमदिरा के आस्वादन में प्रवृत्ति या उनके साथ अत्यन्त प्रगाढ रत्यादि भोग, आप्त पुरुषों के वचन में भी सहमति न होने के कारण दुर्दमनीय (कठिनाई से दमन करने योग्य) दुष्ट दृष्टि और सुन्दर धर्ममार्ग से विरक्ति उन लोगों को होती ही है जो मोह से अन्धे हो गये हैं। स्त्रियों के अधर-रस-पान से लेकर सन्मार्ग से विरक्ति पर्यन्त के कार्यों में उनकी ही प्रवृत्ति होती है जो अज्ञान के कारण पारमार्थिक दृष्टि से शून्य हैं। दीपक अलङ्कार।।२३।।

अब धर्मशास्त्रों की आलोचना में तत्पर भोगियों के शास्त्रों से पलायन का निरूपण करते हैं—

एकं तथ्यं मम हृदि सदा चित्प्रभेवैव भाति
भोगायत्ता यदिह भगवद्वेदशास्त्रादिकेभ्यः।
अम्भोवेगादिव विलसदो बिभ्यतो विद्रवन्ति
तेन प्रोच्चैः कलुषितधियो दुर्मदा दुर्भषन्ति।।२४।।

मेरे हृदय में सदा एक ही यथार्थ वस्तु चित्प्रभा (प्रत्यागात्मचैतन्य का स्फुरण) के समान ही भासित होती है कि भोगों के अधीन हुए मानव हर तरह से ऐश्वर्यसम्पन्न वेदशास्त्र आदि से भयभीत होते हुए उसी तरह बिलबिला कर इधर-इधर भागते हैं जैसे जल के वेग से बिल में रहने वाले जन्तु। इसी कारण वे दुर्मद प्राणी अत्यधिक कलुषित बुद्धि वाले होकर शास्त्रों के प्रति विपरीत प्रलाप करते हैं। जो शास्त्र उनके भोग की विधा में बाधक होते हैं उनकी वे आलोचना करते हैं। उपमा अलङ्कार।।२४।।

जो यह मानते हैं कि निम्न जातियाँ तिरस्कृत होकर यवन आदि हो गयी हैं, उनको उत्तर देते हैं—

मन्यन्ते ये स्मृतिभिरधुना न्यक्कृता निम्नजातिः
साम्याकृष्टा निजसरणितो वैपरीत्यं गतेति।
मूढास्ते वै बहुविषमता धर्मदृष्ट्या यतोऽत्र
काले सर्वान् समरसतया त्वेकसूत्रे करोति।।२५।।

जो यह मानते हैं कि स्मृतियों में प्रतिपादित अस्पृश्यता आदि के कारण तिरस्कृत हुई निम्न जाति साम्य के प्रति आकृष्ट हुई विपरीत मार्ग स्वीकार कर ली है, वे अत्यन्त मूढ अर्थात् अज्ञानी हैं क्योंकि इस भारत वर्ष में मनुष्यों में विद्यमान बहुत प्रकार की विषमता धर्मदृष्टि से समय-समय पर समरसता के कारण सभी को एक सूत्र में पिरो देती है। तात्पर्य यह है कि यहाँ स्मृतियों के

कारण ही विधर्मियों का अभियान विफल हो गया है और सनातन मर्यादा बची हुई है, जो विपरीत मार्गस्वीकार कर लिए हैं उसमें कुछ और कारण है।।२५।।

इसी तथ्य को सात श्लोकों से सुस्पष्ट करते हैं—

वर्णग्रामेऽतिशयवशतः ख्यातिमाप्तःस विप्रो
नालच्छेदादिकशिशुविधौ चर्मकारीं नियुङ्क्ते।
चाण्डालोऽपि क्रमपरिगतः साण्डचिह्नं करोति
नो कोऽपीहागणितविषयो हीनतामभ्युपैति।।२६।।

चारों वर्णों में अतिशय श्रेष्ठता के बल से लोक और वेद में ख्याति प्राप्त कर लेने वाला ब्राह्मण भी पुत्रादि के जन्म होने पर उनके नालच्छेद आदि कर्मों में हीनजाति चर्मकारी को लगाता है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण शिशु सर्वप्रथम चर्मकारी की गोद में मातृसुख का अनुभव करता है। इसी तरह क्रमप्राप्त चाण्डाल भी अन्त्येष्टि के अवसर पर वृषोत्सर्ग में साँड़ को अङ्कित करता है। अण्डाभ्यां सह वर्तते इति साण्डः। तस्य चिह्नं साण्डचिह्नम्। एवञ्च, इस भारतवर्ष में कोई भी ऐसी जाति नहीं है जिसका विशेष कार्य अवसरविशेष पर निर्धारित न हो। अपने-अपने कार्यों में धर्मबुद्धि के कारण कोई भी हीनता का अनुभव भी नहीं करता।।२६।।

ग्रस्ते सूर्ये नय इव खलै राहुणा वापि चन्द्रे
गर्वाखर्वस्तिमितनयना धर्ममन्तर्निधाय।
चाण्डालास्ते द्विजवरगणान् सोपहासं वदन्ति
युष्मत्स्थाने वयमिह बुधा! दीयतामत्र दानम्।।२७।।

खल पुरुष जैसे नीति को ग्रस लेते हैं वैसे ही राहु के द्वारा सूर्य और चन्द्रमा के ग्रस लिए जाने पर गर्व से अत्यधिक चकित नेत्रों वाले चाण्डाल धर्म को अपने अन्तर्हृदय में धारण करके ब्राह्मणों

से उपहास के साथ बोलते हैं कि वे ब्राह्मण विद्वानों! आज आप लोगों के स्थान पर हम दान लेने के अधिकारी हैं, इसीलिए आप लोग हमें दान दें॥२७॥

ज्योतिष्टोमप्रभृतिभिरहो साग्निचित्यैर्यजन्तः
सायंप्रातर्विहितमथवा नित्यकृत्यञ्चरन्तः।
विप्रोत्तंसा अपि रसिकताशालिनो होलिकायां
निष्ट्यान् कामानिव हृदि गतान् नावगूहन्ति किं वा।।२८।।

अग्निचयन की प्रक्रिया से परिपूर्ण ज्योतिष्टोम (सोमयाग का नाम) आदि यज्ञों को करने वाले और सायङ्काल एवं प्रातःकाल में विहित सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों को करने वाले विप्रोत्तंस अर्थात् ब्राह्मणों के भूषण (अपने नित्य नैमित्तिकादि कर्मों को करने से ही ब्राह्मण भूषणस्वरूप होते हैं न कि प्राशासनिक सेवा आदि से, यह ध्वनि है) होली के अवसर पर रसिकता से आप्लावित होकर हृदय में विद्यमान स्वर्ग आदि कामों (कामना के विषय) की तरह क्या निष्ट्यों का आलिङ्गन नहीं करते? अर्थात् करते ही हैं। निर्गता वर्णाश्रमेभ्य इति निष्ट्याः, अर्थात् वर्ण-आश्रम से बाह्य चाण्डाल आदि जातियाँ निष्ट्य कही जाती हैं। होली के अवसर पर घर के बाहर इनके आलिङ्गन का विधान है, सो विद्वान् ब्राह्मण भी करते हैं। सभी वैदिक मार्ग में वर्तमान जातियाँ और प्रजातियाँ पानकरस में गुड-मरिच आदि की तरह मिल कर एक हो जाती हैं, यह अभिप्राय है। उपमा अलङ्कार॥२८॥

माधुर्येण त्रिभुवनमपि व्याप्य सम्यक् प्रसिद्धा
भो भोः प्रेमन्! किमिति रसिता नेह कादम्बरी सा।
यत्र स्फीतावयवललनासाधुसम्पद्गृहीता
चाण्डाली तैरवनिपसुतैः कन्यकाऽऽराधिता सा।।२९।।

हे प्रेमाचार्य शास्त्री जी महाराज! यहाँ क्या आप ने उस अद्भुत कादम्बरी (काव्य और मदिरा) का आस्वादन नहीं किया

है जो अपनी रसमाधुरी से तीनों लोकों को व्याप्त करके पूर्ण रूप से प्रसिद्ध है? 'कादम्बरीरसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते', यह लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है जिसका यही अभिप्राय है कि महाकवि श्रीबाणभट्ट की अद्‌भुत कृति कादम्बरी के रस को जानने वाले और मदिरा के प्रेमी को भोजन भी अच्छा नहीं लगता। ऐसी कादम्बरी का आस्वाद शास्त्रीजी को प्राप्त नहीं हुआ है, इसीलिए उन्हें स्मृतियों की व्यवस्था के कारण समाज में वैषम्य दिखायी देता है। जो कादम्बरी के रस को जानते हैं उन्हें यह विषमता नहीं दिखायी देती क्योंकि कादम्बरी में निर्मल अङ्गों वाली ललनाओं में विद्यमान साधु संपत् (गुणसमुदाय) से गृहीत अर्थात् परिपूर्ण वह चाण्डाल की अनुकम्पित कन्या उन राजकुमारों से संमानित हुई थी। तात्पर्य यही है कि जब स्मृतियों की व्यवस्था अपने चरम पर थी तब चाण्डाल आदि भी अपनी समस्या के लिए राजभवन में सीधे सम्मानपूर्वक प्रविष्ट हो जाते थे। आज, जब स्मृतियों का तिरस्कार हो रहा है तब वहाँ शिष्टों का भी प्रवेश दुष्कर है। ऐसे में हीन लोगों के लिए प्रवेश की बात सोचना भी संभव नहीं है। ग्रहण आदि के अवसरों पर घाटों के किनारे इनकी स्थिति को देखने पर आज के शासन की वास्तविकता का पता चलता है। आज हीन भाव से 'मैं डोम हूँ', ऐसा कहकर बच्चे भीख मागते हैं और यह शासन इधर दृष्टिपात न करके उन समृद्ध दलितपुत्रों की विलायत में पढने की व्यवस्था करता है जो अपनी छात्रवृत्ति के अधिकांश भाग को मौजमस्ती में खर्च कर देते हैं। श्लेष अलङ्कार॥२९॥

नो जानासि प्रियनरपते रन्तिदेवस्य कृत्यं
क्षुत्क्षीणो यत् सकलमशनं क्लिष्टनिष्ठ्याय दत्वा।
योगीन्द्रैरप्यसुलभगतिं निर्वृतिं तामवाप्य
गत्वा स्वान्ते रुजमसुमतां कामयामास हर्तुम्॥३०॥

श्रीशास्त्री! क्या आप प्रिय महाराज रन्तिदेव के कृत्य को नहीं जानते कि उन्होंने भूख से क्षीण होकर भी अपना सारा भोजन भूख

से व्याकुल चाण्डाल को देकर योगीन्द्रों के लिए भी जिसकी प्राप्ति कठिन है, ऐसे उस ब्रह्मानन्दसहोदर आनन्द को प्राप्त करके यही कामना की थी कि वे प्राणियों के अन्तःकरण में घुस कर उनकी सारी व्यथायें हर लें। ऐसी उदात्त वृत्ति चतुर्दश विद्यास्थानों के प्रति आस्था से ही संभव है। उनमें अनास्था रखने वाले ऐसी बात सोच भी नहीं सकते। विकृत बुद्धि में सद्विचार संभव नहीं, यह अभिप्राय है।।३०।।

भूयः प्रेमन्! स्मर रघुपते रामचन्द्रस्य वृत्तं
यस्मिन् पुष्टप्रणयवशगः पापजातिं निषादम्।
आलिङ्ग्याहो प्रियजनकजाऽऽलम्भतः सुप्रसूतां
पूर्णानन्दस्फुरणविततिं विस्मृतोऽसौ क्षणेन।।३१।।

हे प्रेमाचार्यजी! आप पुनः रघुपति श्रीरामचन्द्र के वृत्तान्त का स्मरण कीजिये जिसमें वे पुष्ट प्रेम के वश में होकर अत्यन्त हीन जाति वाले निषाद का आलिङ्गन करके अपनी प्रिया सीता के आलिङ्गन से उत्पन्न पूर्णानन्द के स्फुरण की धारा को क्षण भर में ही भूल गये थे।।३१।।

उद्वृत्तेनच्छलमयविधापण्डितेनैव नीता
सीता मेने यमिह पितरं तं जटायुःखगं यः।
अङ्के धृत्वा नयनसलिलै र्यच्चकाराभिषेकं
तस्यान्त्येष्टिन्तदनु भगवान् तत्र मूलं श्रुति र्नः।।३२।।

क्रूर और प्रचुर छल वाले कार्यों में पण्डित रावण के द्वारा अपहृत होती हुई सीता ने जिसे अपना पिता माना था उस जटायु नामक पक्षी को जो भगवान् अपने अङ्क में भरकर नेत्रों के जल से अभिषेक किये थे और बाद में जिन्होंने उसकी अन्त्येष्टि भी की थी, उन सबके मूल में हमारी श्रुति ही है। एवञ्च, श्रुतियों और तन्मूलक स्मृतियों में अनास्था रखने वाले सामाजिक समरसता

के ही शत्रु हैं, यह ध्वन्यर्थ है। क्या आज के शासकों में ऐसी सहृदयता है? संभव ही नहीं है क्यों कि उनकी शास्त्रों के प्रति आस्था नहीं है॥३२॥

अब स्मृतियों के प्रति असूया रखने वाले श्री शास्त्रीजी के दलीयों को उत्तर देते हैं—

याभ्योऽसूया भवति भवतां दुर्दलानां दलानां
तत्सामर्थ्याद‌भयमनिशं जन्तवः संचरन्ति।
तच्छैथिल्यात् तृणमपि गवां ब्राह्मणानाञ्च वृत्तिः
पुन्नागानामुदरकुहरे रोदितीवाभ्युपैति।।३३।।

आप के दुर्दलनीय दलों की जिनसे असूया है उन स्मृतियों के प्रभाव से ही जन्तु अभय होकर निरन्तर संचरण करते हैं। परहिंसा, परद्रव्यापहरण आदि कुत्सित कार्यों से होने वाले दुरित के शमन के लिए नाना प्रकार के प्रायश्चित्तों को देख कर अधिकांश जनता उन कृत्यों से दूर रहती है। फलतः जन्तु निर्भय विचरण करते हैं। स्मृतियों के प्रति शिथिलता के कारण ही गौवों का तृण और विचारे ब्राह्मणों की वृत्ति पुरुष गजों के उदर-बिलों में रोती हुई मानो प्रविष्ट हो रही है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार॥३३॥

इसी बात को दृष्टान्त से सुस्पष्ट करते हैं—

तुर्ये वर्णे जनिमुपगताः श्वेतकूर्चोत्तरीया
मुण्डाः केचिन्नकुलशिखिनस्तद्‌विहीनास्तथाऽन्ये।
शास्त्रापेताभिनयबहुला हास्यहुङ्कारहृष्टा
मञ्चस्था हा विषमकथया ब्रह्मवृत्तिं दहन्ति।।३४।।

चतुर्थ शूद्रवर्ण में जन्म लेने वाले कुछ सफेद दाढ़ी रूपी दुपट्टा ओढ़े तथा कुछ मुण्ड मुड़ाये एवम् नेवले जैसी लम्बी शिखा रखने वाले और अन्य संन्यास लेने के कारण शिखा से विहीन लोग शास्त्रीय ज्ञान से शून्य होने के कारण केवल अभिनय करने में

कुशल होते हुए मञ्चस्थ होकर हास्य-हुङ्कार से हृष्ट-पुष्ट हुए अपनी विषम कथा से (समाज में भ्रम पैदा करने वाली कथा से) ब्राह्मणों की वृत्ति को जला रहे हैं। कथा के माध्यम से ब्राह्मणांश कुछ लोग ले रहे हैं तो कुछ काषाय आदि धारण करके ग्राम-नगरों में मन्दिर बना कर स्वयम् पुजारी बने जनता से धन की उगाही कर रहे हैं जिसमें ब्राह्मण का ही अधिकार है, यह अभिप्राय है।।३४।।

शास्त्री श्री प्रेमाचार्य जी जिस दल के समर्थक और पोषक हैं उस दल के लोगों की ब्राह्मणविरोधिता को प्रकट करते हैं—

आर्त्विज्ये या श्रुतिषु महिता श्रूयते विप्रजाति-
र्देवेज्यायामत इह बुधै र्योजिता साऽऽदरेण।
तामुच्छिद्य प्रभुपदसमाराधनात् त्वद्दलीया
धर्माचार्यान् हरिजनकृते सर्वदा चोदयन्ति।।३५।।

आर्त्विज्य (ऋत्विक्कर्म) में ब्राह्मणों का ही अधिकार है, ऐसा श्रुतियों और स्मृतियों में भूरिशः प्रतिपादन है। इसीलिए—

'क्षत्रियो याज्ञिको यस्य चाण्डालस्य विशेषतः।
कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः'।।

इस वाल्मीकीय वचन से देवताहविर्भाग का निराकरण है जिससे यज्ञ का वैगुण्य ही प्रदर्शित किया गया है। विश्वामित्र क्षत्रिय हैं अतः उनके लिए हविर्भाग कैसे हो सकता है, क्योंकि यह ब्राह्मणों और देवताओं के लिए ही श्रुतियों में प्रतिपादित है। सुरर्षयः, में द्वन्द समास है। जैसा कि पार्थ-सारथिमिश्र शास्त्रदीपिका में लिखते हैं—'सुरा देवा ऋषयश्च ऋत्विग्भूता इति'।

'ब्राह्मणानामिदं हविः', यह मन्त्र दर्शपूर्णमासयाग में पुरोडाश के चतुर्धाकरण के अनन्तर निर्देश के लिए है। वह चतुर्धाकरण ऋत्विजों के द्वारा किये जाने वाले शेषभक्षण के लिए है। मन्त्र में 'ब्राह्मणानाम्', यह निर्देश ऋत्विजों के लिए ही है जिससे यही

निश्चित होता है कि पौरोहित्य, आदि कर्म ब्राह्मण ही कर सकते हैं। उसी मन्त्र में आगे 'नेहाब्राह्मणस्यास्ति', ऐसा अब्राह्मण के भाग का निषेध है। इसी तरह—

'हुतादा ये ब्राह्मणा यदन्वाहार्यमाहरन्ति'

इस मन्त्र में दर्शपूर्णमास याग ही में अन्वाहार्य (ओदन) के भक्षणयोग्य ऋत्विजों के विषय में 'ब्राह्मण' शब्द का निर्देश भी ब्राह्मणों के आर्त्विज्यनियम को ध्वनित करता है।

इन्हीं सारे तथ्यों को हृदय में रखकर कहते हैं—'आर्त्विज्ये या श्रुतिषु महिता श्रूयते विप्रजातिः'। यज्ञ आदि कार्यों के निष्पादन में जो पूजित ब्राह्मणजाति वेदों में सुनी जाती है उसी को विद्वानों ने आदरपूर्वक मन्दिरों में यहाँ देवपूजन के लिए लगाया है। हे शास्त्रार्थपञ्चानन जी! आप के द्वारा समर्थित दल वाले आज उस ब्राह्मणजाति को प्रभुचरणों की सम्यक् आराधना से हटाकर हरिजनों (अन्त्यजाति में रूढ़) के लिए हमेशा धर्माचार्यों को प्रेरित करते रहते हैं। आप जिस दल के समर्थक हैं वह दल वेद, स्मृति और सनातन आर्य-मर्यादा एवम् भारतीयता का विरोधी है, यह अभिप्राय है[१]।।३५।।

उनके निष्प्रयोजन ब्राह्मणविरोध को कहते हैं—

नाहं जाने तव दलजुषां ब्राह्मणैः को विरोधो
येनैवं तेऽहय इव मुधा निस्पृहाँस्तान् दशन्ति।
किन्ते स्वीयप्रियसखकले र्भीमदूताः किमाहो
न्यायत्रस्ताः पुनरुपचिता स्तिग्मतर्का अटन्ति।।३६।।

शास्त्रीजी, मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि आप के दल का सेवन करने वालों का ब्राह्मणों से क्या विरोध है, जिससे वे

१. ऋषिकेश में श्रीकौशलेन्द्रप्रपन्नाचार्यजी के समक्ष इस तथ्य को श्रीजियरस्वामीजी महाराज ने प्रकट किया था।

सापों की तरह व्यर्थ ही उन निस्पृह ब्राह्मणों को काटते रहते हैं? क्या वे अपने प्रिय मित्र कलि देव के भीषण दूत हैं या न्याय से त्रस्त होकर पुनः वृद्धि को प्राप्त हो उसके तीक्ष्ण तर्क इधर उधर विचरण कर रहे हैं। उपमा, सन्देह अलङ्कार॥३६॥

अब अनधिकारियों के कार्य के प्रभाव को कहते हैं—

प्रौढस्त्रीणां पिकरवसमाश्लिष्टशश्वत्कथाभि-
र्युष्माकं वा निगमविषये दुःसहाभिर्व्यथाभिः।
मञ्चस्थानामभिनयकलाकुण्ठितानां प्रथाभि-
र्ग्रावप्रख्या मतिरिह नृणां जायतेऽसद्विधाभिः॥३७॥

प्रौढ स्त्रियों के कोकिलरव से ठीक से मिली हुई निरन्तर होने वाली कथाओं से या आप लोगों की वेद के विषय में होने वाली असह्य व्यथाओं से तथा मञ्चों पर विराजमान एवम् अभिनय-कला में कुण्ठित हुए पुरुषों की प्रथाओं से और उनके असत्प्रकारों से यहाँ मानवों की बुद्धि पत्थर के समान हो गयी है। ग्रावभिः प्रख्यायत इति ग्रावप्रख्या। इससे यही ध्वनित होता है कि शिष्टों का उपदेश उनके लिए अब अकिञ्चित्कर है। तेन च, भारत की भव्यता अब भगवान् के हाथ में है, यह ध्वनि है। व्यङ्ग्य से भी व्यञ्जना होती है, यह प्रकाशादि ग्रन्थों में सुस्पष्ट है॥३७॥

क्या अनर्थों के मूल में ब्राह्मण नहीं हैं?, ऐसी आशङ्का का उत्तर देते हैं—

सत्यं केचिद् विभववशगाः सन्ति साण्डा इवोग्रा
विप्राश्चान्ये दितनयनिभा नेतृवीथ्यां प्रविष्टाः।
सर्वे चैते तव कुदलिभिः पादपूज्याः परन्तु
वैधीं धारामिह विदधतो धार्मिका धिक्क्रियन्ते॥३८॥

'सत्यम्', यह पद आशङ्काकारी की आधी बात स्वीकार करने के लिए है। हैं कुछ ऐसे ब्राह्मण जो वैभव के वश में होकर उग्र

साँड़ जैसे हो गये हैं तथा कुछ खण्डित नीति के समान नेताओं की गलियों में प्रवेश कर गये हैं। जैसे वहाँ खण्डित नीति है वैसे ही कुछ ब्राह्मण भी हैं। फिर तो ये अनादरणीय हैं? नहीं, शास्त्रीजी! ये लोग आप के कुत्सित दल वालों के लिए पादपूज्य (पाँवपूज्य) हैं। वे लोग तो केवल उन्हीं लोगों को धिक्कारते हैं जो धार्मिक यहाँ श्रौती (वैदिकी) धारा को धारण किये हुए हैं। उपमा अलङ्कार।।३८।।

अब ब्राह्मणों के विश्वविख्यात कार्यों को प्रकट करते हैं—

ब्रूहि प्रेमन्! भरतविषये नैकशाखाप्रभिन्ना
वेदास्तत्तत्स्मृतय इतरे दर्शनादिप्रभेदाः।
पाल्यन्ते कैः सदयमधुना पालितोपासिता वा
श्रेयोबुद्ध्या तदवगमिता भावनोद्भासिता वा।।३९।।

हे प्रेमाचार्य जी, आप इसका उत्तर दें कि भरत के देश भारत में अनेकों शाखाओं में विभक्त वेदों की और उन उन स्मृतियों की तथा अन्य दर्शन आदि प्रभेदों की रक्षा आज कौन कर रहा है? कैसे? सदयम्। दयापूर्वक। यह भी कहें कि पहले भी इन सारी विद्याओं का पालन और इनकी उपासना किसने की? श्रेय की बुद्धि से इनसे प्रकट हुई भावना का उद्भासन किसने किया? भवितुर्भवनानुकूलो व्यापारो भावना। इन शास्त्रों में ही निःश्रेयस की ओर अग्रसर करने वाली प्रेरणायें हैं और इनके द्वारा साध्य स्वर्ग आदि फलों के अनुकूल व्यापार भी हैं, ऐसा उद्भासन ब्राह्मणों ने ही किया है, अन्यों ने नहीं।।३९।।

इस राष्ट्र की प्रतिष्ठा के मूल में ब्राह्मण ही हैं, ऐसा कहते हैं—

एतद् राष्ट्रं किमखिलगुरु धर्मतो नैरपेक्ष्यात्
किं वा कुण्ठाकवलितदृशो नेतृवर्गस्य मौख्यात्।

आहो किं त्वद्दलगतमहासिद्धभूतस्य चोद्याद्
नो नो प्रेमन्! प्रथितयशसां ब्राह्मणानाञ्च पुण्यात्।।४०।।

धर्म और शिष्टाचार आदि के मामले में आज भी यह भारत राष्ट्र पूरे विश्व का गुरु माना जाता है। अथवा, इस भारत को जो विश्वगुरु कहा जाता है वह क्या धर्मनिरपेक्षता के कारण कहा जाता है या कुण्ठा ने जिनकी दृष्टियों को हजम कर लिया है उन नेताओं के वर्ग की मूर्खता के कारण कहा जाता है अथवा क्या आप के दल में विद्यमान महासिद्ध हुए किसी के चोद्य (आक्षेप) के कारण कहा जाता है? इन काकुमूलक प्रश्नों के परिणाम निषेध को प्रस्तुत करते हैं—नहीं, नहीं प्रेमाचार्यशास्त्रीजी महाराज! यह भारत विश्वगुरु उन ब्राह्मणों के पुण्य से है जिनका यश सर्वत्र विस्तृत है।।४०।।

ब्राह्मणों के लोकोत्तर कार्यों को प्रस्तुत करके उनके वृत्तिच्छेदकों के परिणाम के विषय में कहते हैं—

दैवी सम्पद् भृशमुपगता यैरियं शास्त्रसिद्धां
तेषां वृत्तिं लघु विदलितुं सान्वयोत्कण्ठितानाम्।
रक्षाव्याजादहह चरतां भारतस्योल्बणानां
सङ्घीयानां तमसि गहने का गति नैंव जाने।।४१।।

दो प्रकार की संपत्ति होती है—दैवी और आसुरी। दैवी संपत्ति संसारार्णव से मुक्ति के लिए होती है और आसुरी संपत्ति भोग, बमविस्फोट, प्रलोभन देकर सत्ता आदि प्राप्त करने के लिए होती है जिसे बन्ध भी कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इसे सुस्पष्ट किया है—

'दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव'।।

(गीता १६.५)

आसुरी संपत्ति प्राप्त कर लेने वाले उग्र कर्म करते हुए संसार के लिए अहितकर और विनाशकारी होते हैं, ऐसा भी भगवान् कहते हैं—

'प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।। (गीता १६.९)

जिन ब्राह्मणों ने बार-बार दैवी सम्पद् को ही प्राप्त किया है उनकी शास्त्रों से सिद्ध स्वाभाविक वृत्ति को तेजी से विदीर्ण करने के लिए जो अपने पूरे कुल के साथ उत्कण्ठित रहते हैं और भारत की रक्षा के बहाने इधर-उधर विचरण करते हैं, ऐसे उल्बण (नतोन्नत) सङ्घीय परिवार की क्या गति होगी? इसका मुझे ज्ञान नहीं है। यद्यपि मेरी दृष्टि में कोई कमी नहीं है तथापि उनकी दुरितराशि इतनी विशाल है कि वहाँ तक मानवों की दृष्टि नहीं जा सकती, यह ध्वनि है।।४१।।

अपनी असमर्थता प्रकट करके भगवान् की दृष्टि को प्रकट करते हैं—

विष्ठायान्तेऽपरिमितसमा याम्यलोकाद् निवृत्ताः
क्षुद्राः कीटा अगणितभिदा भुक्तये संभवन्ति।
इत्येवं व्याहृत स भगवान् यस्य निःश्वासभूता
वेदा विप्रैरवधृततया धर्ममूले विभान्ति।।४२।।

वे यमलोक की यातनाओं का उपभोग करके लौटकर इस लोक में आकर विष्ठा (मल) में अपरिमित वर्षों तक अगणित भेदों में भोग के लिए क्षुद्र कीड़े होते हैं, ऐसा वे भगवान् कहे हैं जिनके निःश्वासभूत अयत्नसिद्ध वेद ब्राह्मणों के द्वारा पालित होकर धर्म के मूल में सुशोभित हो रहे हैं। अरे! यह विपरीत वार्ता क्यों?

'स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेत्तु यः।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते क्रिमिः'।।

ऐसा भगवान् ने नृग के उपाख्यान में कहा है। यहाँ तो यमलोक की यातना की चर्चा ही नहीं है? सत्यमाह भवान्, किन्तु भगवान् का तात्पर्य पूर्वोक्त अर्थ में ही है। तथा हि—

'संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्'।

(ब्रह्मसूत्र ३।१।१३)

यहाँ यही प्रतिपादित है कि अनिष्टादि कार्य करने वालों के लिए चन्द्रलोक नहीं है क्योंकि वे लोग संयमन अर्थात् यमलोक में जाकर अपने पापों के अनुरूप यामी यातना का अनुभव करके पुनः इस लोक में आते हैं। यही उनका आरोहण और अवरोहण है क्योंकि श्रुतियों और स्मृतियों में यमलोक के गमन का दर्शन होता है। सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण इस तरह से श्रीभगवत्पाद ने किया है—

'ते तु संयमनं यमालयमवगाह्य स्वदुष्कृतानुरूपा यामी र्यातना अनुभूय पुनरेवेमं लोकं प्रत्यवरोहन्ति'। (शाङ्करभाष्य)

यमलोक में सारे पापों का उपभोग नहीं करते। कुछ बचा रहने पर ही भूलोक में आकर कीट आदि योनियों को प्राप्त करते हैं, यह बात भी वहीं न्यायतः प्रसाधित है। एवञ्च, यथाशास्त्र ही कथन है, ऐसा समझना चाहिये॥४२॥

प्रसङ्गतःधर्म के मूल में स्थित वेदों की धारणयोग्यता के क्रम का प्रतिपादन करते हैं—

पूर्वन्तावच्छ्रुतिसरणितो मैथुनेज्याप्रयुक्तिः
पश्चान्मातुस्तरुणकरुणापारवश्यात् प्रसूतिः।
जातेष्ट्यादिप्रसृतविधिभिर्ब्रह्मवर्चोविभूति-
र्वेदाधीतौ किमिति भगवन्! गृह्यते नैव रीतिः॥४३॥

सबसे पहले वैदिक विधान के अनुसार शिष्ट का मैथुनयज्ञ-प्रयोग हो। वेद की ही यह दृष्टि है कि मैथुन एक यज्ञ है। इससे

गर्भाधान संस्कार की अनिवार्यता प्रकट होती है। इसके बाद माता की तरुण करुणा की परवशता से प्रसव होना चाहिये। इससे पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कार ध्वनित है। माता की तत्परता भी इन दोनों संस्कारों का प्रयोजक है। इसीलिए कहा है—तरुणकरुणा। ऐसा होने पर ही मिथ्या आहार-विहार का परिवर्जन सम्भव है। पुत्रोत्पत्ति के बाद पिता की जिम्मेदारी बढ़ जाती है जिसके लिए तृतीय चरण का उपन्यास किया गया है। जातेष्टि आदि। 'आदि' शब्द से उपनयन पर्यन्त संस्कारों की विवक्षा है। तभी तो कहा है कि जातेष्टि आदि विस्तृत विधियों से ब्रह्मवर्चस की विभूति। हे भगवन्! शास्त्री जी! क्या वेदाध्ययन में यह रीति गृहीत नहीं होती? अर्थात् होती ही है। इससे यह ध्वन्यर्थ निकलता है कि आचारभ्रष्ट नायकों का वेदादि के अध्ययन में अनधिकृतों को लगाने का उपक्रम केवल उनका दुराग्रह है। पुत्रोत्पत्ति के बाद **'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते'**, इस वचन से जातेष्टि का विधान है जिसका फल पुत्र के लिए है। मीमांसा में सम्यक् इस विषय पर विचार है। **'यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्वी अन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति'**, इस वाक्य से अवगत पूतत्वादि ही इसके फल हैं।।४३।।

वेदाध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी के नियमों को कहते हैं—

सायं प्रातर्विहितसमिदाधानमाहुर्मुनीन्द्रा
भैक्षाचारस्तदनु गुरवे नित्यसान्ध्यो विधिश्च।
मांसत्यागः सह च मधुभिर्दण्डवन् मज्जनञ्च
किं किं कष्टं न भवति वटोर्ब्रह्मणः प्राप्तयेऽत्र।।४४।।

सायं और प्रातःकाल में विहित पलाश की समिधाओं के आधान की बात मुनीन्द्र कहते हैं। 'आहुर्मुनीन्द्राः' से अलङ्घनीयता ध्वनित होती है। ततश्च, अवश्यकर्तव्यता। इसके अतिरिक्त गुरु के लिए भैक्ष (भिक्षा का समूह) का आचरण और नित्य सन्ध्यावन्दन। मधु (क्षौद्र) के साथ मांस का भी त्याग और दण्डवत् स्नान जिसमें

शारीरिक मल को चूर्णादि के माध्यम से दूर करने का उपक्रम नहीं होना चाहिये। इस प्रकार यहाँ वटु को ब्रह्म (वेद) की प्राप्ति के लिए क्या क्या कष्ट नहीं झेलना पड़ता? अथवा प्रत्यगात्मचैतन्य रूप ब्रह्म या अनन्त कल्याणगुण के निधि भगवान् नारायण की प्राप्ति के लिए क्या क्या नहीं करना पड़ता? बाल्यावस्था में ही धर्माधर्म के परिज्ञान के लिए सनियम वेदाध्ययन करना पड़ता है।।४४।।

वेदाध्ययन सम्पन्न हो जाने पर क्या करना चाहिये? यह सुस्पष्ट करते हैं—

वेदेऽधीते क्रमपरिगतस्नानशास्त्रस्य बाधाद्
धर्मस्यातः किल गुरुगृहावासपूर्वो विचारः।
तत्पश्चाद् वै मनुसमुदितान् स्नातकस्यैव धर्मान्
धृत्वा सद्यो द्युमणिमहितो जायतेऽसौ विपश्चित्।।४५।।

वेद का अध्ययन हो जाने पर स्नान (समावर्तन) शास्त्र का बाध करके वेदाध्ययन के दृष्टार्थक होने के कारण गुरु के घर में रहते हुए ही वेदार्थ धर्म का विचार होता है। अयम्भावः— 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तैत्तिरीय आरण्यक २।१५)। इस विधि के द्वारा अध्ययन का विधान है। गुरुमुखोच्चारणपूर्वक उच्चारण को अध्ययन कहते हैं। अपनी कुलपरम्परा से प्राप्त शाखा को स्वाध्याय कहते हैं जिसकी अध्ययन से प्राप्ति कही गयी है। शाखा के ग्रहण के बाद क्या करना चाहिये, यह विचार प्राकरणिक है; क्योंकि 'अधीत्य स्नायात्' (मनुस्मृति ३।२, बौधायनगृह्यसूत्र ६।१), यह स्नान का विधायकशास्त्र वेदाध्ययन के तत्काल बाद गुरुगृह से समावर्तन को कह रहा है तथा न्यायसूचक 'अथातोधर्मजिज्ञासा' (मीमांसादर्शन १।१।१), जैमिनि ऋषि का सूत्र गुरुगृह में ही वेदार्थ (धर्म) के विचार को कहता है। इसी बात को भाष्यकार ने इस तरह उपस्थापित किया है—

'किन्तु अधीते वेदे द्वयं समापतति गुरुकुलाच्च समावर्तितव्यम्, वेदवाक्यानि च विचारयितव्यानि'। (शाबरभाष्य)

यदि वेदाध्ययन स्वर्ग आदि अदृष्ट प्रयोजन के लिए होगा तो उतने मात्र से ही अध्ययनविधि चरितार्थ हो जायेगी, फिर गुरुगृह से समावर्तन ही सिद्ध होता है। यदि अक्षरग्रहण आदि की परम्परा से जायमान अर्थज्ञान के लिए अध्ययन का विधान होगा तो वह अर्थज्ञान विचार के बिना सम्भव नहीं होगा, अत: स्नान का बाध करके गुरुगृह में विचार ही होगा। यहाँ स्नानशास्त्र का बाध ही करना उचित है क्योंकि अर्थवान् वेद की आनर्थक्यकल्पना उचित नहीं है। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—

'अतिक्रमिष्याम इममाम्नायम्। अनतिक्रामन्तो वेदमर्थवन्तं सन्तमनर्थकमवकल्पयेम। दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम'। (शाबरभाष्य)

इस दृष्टार्थकता के उपन्यास से भाष्यकार ने **'दृष्टे सम्भवति अदृष्टकल्पनाया अन्यायत्वम्'** इस न्याय को सूचित किया है जिसका यही तात्पर्य है कि वेदाध्ययन का धर्माधर्मपरिज्ञान रूप यदि दृष्ट प्रयोजन उपलब्ध हो रहा है तो स्नानशास्त्र के अनुरोध से उसे स्वर्ग आदि अदृष्ट के लिए स्वीकार नहीं किया जा सकता। किञ्च, 'अधीत्य स्नायात्', यह शास्त्र यह नहीं कह रहा है कि वेदाध्ययन के तत्काल बाद समावर्तन कर दिया जाय। यदि 'अधीत्य' में आये 'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ 'आनन्तर्य' होगा तो वैसा सम्भव भी है। 'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ 'आनन्तर्य' (अनन्तर-स्वार्थ में ष्यञ्) नहीं है। किन्तर्हि? पूर्वकालता है क्योंकि **'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले'** (अष्टाध्यायी) यह भगवान् पाणिनि का स्मरण 'पूर्णकालता' अर्थ में ही है। भाष्यकार भी इसे ध्वनित करते हैं—

'पूर्वकालतायां क्त्वा स्मर्यते न आनन्तर्ये, दृष्टार्थता चानन्तर्ये अध्ययनस्य व्याहन्येत'। (शाबरभाष्य)

यदि आनन्तर्य अर्थ होगा तो वेदाध्ययन दृष्ट प्रयोजन वाला नहीं हो पायेगा। फलतः यही निश्चित हुआ कि स्नान के पहले वेदाध्ययन होना चाहिये। बिना वेदाध्ययन के समावर्तन संस्कार का कोई औचित्य नहीं है। यदि वेदाध्ययन के बाद गुरुगृह में ही विचारशास्त्र (मीमांसा) का आरम्भ कर दिया जाय तो भी वह स्नान के पहले ही माना जायेगा। यदि 'क्त्वा' प्रत्यय का 'आनन्तर्य' अर्थ कर भी लिया जाय तो भी यहाँ पर किसी भी प्रकार का अनिष्ट नहीं है क्योंकि 'स्नान' शब्द की लक्षणा अस्नानादि नियम की निवृत्ति अर्थ में कर ली जायेगी। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारी के लिए वेदाध्ययन में जो कुछ भी मधु-मांस का अभक्षण, भिक्षाचरण, विधिवत् स्नान का अभाव आदि नियम हैं वे वेदाध्ययन के बाद निवृत्त हो जाँय। मात्र इतने अर्थ में ही 'अधीत्य स्नायात्', इस शास्त्र का तात्पर्य है, गुरुकुल से निवृत्ति में नहीं क्योंकि वह विचार का विरोधी है। अत एव इसी विरोधी अंश में इस शास्त्र का बाध होगा, इसी तथ्य को श्लोक के इस अंश से उजागर करते हैं— **वेदेऽधीते क्रमपरिगतस्नानशास्त्रस्य बाधात्।**

यह सब वेदाध्ययन की दृष्टार्थता के लिए ही स्वीकृत है। जैसा कि श्रीवार्तिककार ने उपसंहार किया है—

'तस्मादध्ययनस्नानजिज्ञासाक्रमवाचिनाम्।
दृष्टार्थत्वाय शब्दानामेवं व्याख्येयमाश्रिता।।' (श्लोकवार्तिक)

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यहाँ अध्ययनवाची शब्द का अर्थावबोधनार्थत्व 'स्नान' शब्द का अस्नानादिनियमनिवृत्तिबोधकत्व और जिज्ञासा के क्रम के वाचक 'अथ' शब्द का जो गुरुकुल से निवृत्ति का व्यावर्तन अर्थ किया गया है उसमें दृष्टार्थता ही कारण है।

धर्माधर्म का गुरुगृह में ही विचार करने के बाद भगवान् मनु के द्वारा उपदिष्ट स्नातक के धर्मों को अपने घर में आकर धारण

करके वह ब्रह्मचारी से स्नातक हुआ द्विज द्युमणि अर्थात् सूर्य के समान पूजित होकर धर्म के अनुष्ठान के योग्य पूर्णतः विद्वान् हो जाता है॥४५॥

अब धर्मानुष्ठान के लिए गृहस्थाश्रम के परिग्रह को कहते हैं—

गेहे पाणिग्रहणविधिना भिन्नगोत्रीयकन्या-
मङ्गीकृत्य त्रितयदहनोद्भावनाय द्विजोऽसौ।
आधानं तत् तदनु विहितं कर्मजातं करोति
तेनाक्षय्यं सुकृतनिचयं श्रेयसे संचिनोति।।४६।।

घर में आकर पाणिग्रहणविधि से भिन्न गोत्र वाली कन्या को पत्नी के रूप में स्वीकार करके गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि, इन तीनों वैदिक अग्नियों के उद्भावन के लिए वह पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न द्विज अग्न्याधान संस्कार से संपृक्त होता है। तत्पश्चात् उन्हीं अग्नियों में निष्पादनार्थ विहित अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम आदि विहित नित्य-नैमित्तिक और कामना होने पर काम्य धर्मों का अनुष्ठान करता है। धर्मों के उस अनुष्ठान से वह अक्षय्य (कभी क्षीण न होने वाले) पुण्यराशि का सञ्चय श्रेय के लिए करता है।

गुरुकुल से लौटकर समावर्तन से संस्कृत होकर ही धर्मार्थ पत्नी का सङ्ग्रह विहित है। जैसा कि संवर्त कहते हैं—

'एष धर्मः समाख्यातः प्रथमाश्रमिणि द्विजे।
अतः परं समावृत्तः कुर्याद् दारपरिग्रहम्।।'

'पाणिग्रहणविधिना', इससे विवाह में कहे गये सारे धर्मों का परिग्रह उक्त है। जैसाकि मनुशातातप ने कहा है—

'असपिण्डा तु या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने।।'

यह मातृपक्ष से पाँचवीं और पितृपक्ष से सातवीं कन्या से विवाह में ही सम्भव है। जैसा कि विष्णुपुराण से निश्चित होता है—

'पञ्चमीं मातृपक्षाच्च पितृपक्षाच्च सप्तमीम्।
गृहस्थ उद्वहेत् कन्यां न्यायेन विधिना नृप।।'

दारकर्म = दारत्व (पत्नीत्व) का जनक विवाह कर्म। 'मैथुन' शब्द से स्त्री और पुरुष के द्वारा साध्य अपने आश्रम का कर्म अभिप्रेत है। श्लोक में 'भिन्नगोत्रीय' पद भिन्न प्रवर का भी उपलक्षक है। जैसा कि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्।
पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतः क्रमात्।।'

अग्न्याधान का विधान अवस्थाविशेष में है जो 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत', इस वाक्य से लक्षित है। इसका काल भी ब्राह्मणादि के लिए वसन्तादि है जिसे आकर ग्रन्थों से समझ लेना चाहिये। धर्मों से अक्षय्य पुण्य की प्राप्ति—**'अक्षय्यं ह वा सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनः'**, इत्यादि वचनों से सुनिश्चित है।।४६।।

इस मत के परिपोषण में वेदों की अनुकूलता और स्वाभिमतत्व को द्योतित करते हैं—

अस्मिन्नर्थे निखिलनिगमा आनुकूल्यं भजन्ते
काव्यानीव प्रमदबहुले प्रत्यगात्मस्वरूपे।
इत्येवं यन् नयविलसितं जैमिनीयं मतं तद्
मुग्धाहावोच्छलनमिव मे मानसं संवृणोति।।४७।।

इसी पूर्वोक्त, धर्मानुष्ठान के द्वारा ही निःश्रेयस की प्राप्ति अर्थ में सम्पूर्ण वेदों की अनुकूलता है वैसे ही जैसे काव्यों की अनुकूलता आनन्दघन प्रत्यगात्मस्वरूप रस के प्रतिपादन में होती है। **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'**, इस भरतसूत्र के अनुसार काव्य से समर्पित कान्ता आदि विभाव, रोमाञ्चादि अनुभाव,

लज्जा आदि व्यभिचारि साधारण्य को प्राप्त हुए अनादिवासनानुरञ्जित रत्यादि स्थायी भावों से अवच्छिन्न स्वसंवेदनगोचर ज्ञेयान्तर-सम्पर्कशून्य प्रचुरानन्द-सर्वान्तर्यामी-चैतन्यरूप आत्मा को ही अभिव्यक्त करते हैं। इसी तरह वेदान्तों के भी अपेक्षित क्रत्वर्थ पुरुष के प्रतिपादन के द्वारा भावना से ही निराकाङ्क्ष होने के कारण सकल वेदों का तात्पर्य धर्माधर्म के प्रतिपादन में ही है। इस प्रकार नीति से सुशोभित जैमिनि का जो मत है वही मेरे मन को मुग्धा के विलास की अधिकता की तरह आवर्जित (आकृष्ट) करता है। उपमा अलङ्कार।।४७।।

इसके समाधान के लिए सूक्ति का उपन्यास करते हैं—

मत्तप्रायास्तरुणिमगता अङ्गनानां विलासा
उद्वृत्तत्वात् प्रगुणितरया दुर्मुखाणां प्रहासाः।
चापल्याद् वा क्वचिदपि पदे संपदां सुष्ठु वासा
नापेक्षन्तेऽनुमतिमततां मानसानां विकासाः।।४८।।

प्रायः मतवाले और तरुण हुए अङ्गनाओं (कामिनी) के विलास, उग्र होने के कारण प्रगुणित अर्थात् बढ़े हुए दुर्मुखों (दुष्ट) के प्रचण्ड हास, चञ्चलता के कारण किसी भी अनुचित स्थान में भी सम्पत्तियों का भलीभाँति निवास और सतत गमन करने वाले मानसों (मन) का विकास किसी की अनुमति नहीं लेते। ये सभी स्वतः परिस्फुटित हो जाते हैं। ऐसे में हमारे मन को जैमिनि का मत आच्छादित कर ले रहा है अर्थात् मीमांसा में मन का विकास हुआ है तो कोई आश्चर्य नहीं। दीपक अलङ्कार।।४८।।

कारण का निर्देश करते हुए ब्रह्मजिज्ञासा का उपक्रम करते हैं—

प्राग्जन्मादेः सुकृतविभवापेक्षया कारणानां
सम्पन्नत्वे प्रभवति तरां ब्रह्मणोऽसौ विचारः।
येनाविद्याग्रहपरिणतिं संसृतिं संव्युदस्य
श्रेयो विन्दत्यरमिति विदुः शङ्कराचार्यशिष्याः।।४९।।

श्रीभगवत्पाद के मत में धर्मजिज्ञासा में जैसे नियमतः वेदाध्ययन की अपेक्षा होती है वैसे ही ब्रह्मजिज्ञासा में धर्मजिज्ञासा की अपेक्षा नहीं है क्योंकि इसके बिना भी नित्य-अनित्य वस्तुओं का विवेक, यहाँ के और पारलौकिक विषयभोगों के प्रति विराग, शम-दम आदि साधन की सम्पत्ति और मोक्ष की इच्छा, इन चारों साधनों के रहने पर ब्रह्म की जिज्ञासा हो सकती है। जैसा कि श्रीभगवत्पाद जी ने कहा है—

'तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वञ्च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये'। (शाङ्करभाष्य १।१।१)

धर्मजिज्ञासा में वेदाध्ययन जैसे नियमतः अपेक्षित है वैसे ही वह ब्रह्म जिज्ञासा में भी, यह बात 'स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यं समानम्', इत्यादि भाष्य से निश्चित होती है। एवञ्च, वेदाध्ययन के बिना भी जो प्राग्जन्मीय वेदाध्ययन को लेकर ब्रह्मजिज्ञासा की बात करते हैं वे पूर्णतः भ्रान्त और श्रीमद्भगवत्पाद से विरुद्ध हैं, ऐसा समझना चाहिये। इसी सिद्धान्त को हृदय में स्थापित करके— **'प्राग्जन्मादेः'** इत्यादि श्लोक के दो पाद हैं। पूर्वजन्म, 'आदि' पद से इस जन्म में भी किये गये पुण्य की विभुता से साधनचतुष्टयरूप कारणों के सम्पन्न हो जाने पर निःश्रेयस की प्राप्ति के साधन ज्ञान के लिए ब्रह्म का वह प्रसिद्ध विचार होता है जिससे अविद्या (अध्यास) रूपी ग्रह के परिणाम के रूप में अवस्थित इस बन्धनात्मक संसार का निरास करके शीघ्र ही श्रेय को प्राप्त कर लेता है, ऐसा श्रीशङ्कराचार्य जी के शिष्य जानते हैं॥४९॥

इसके पश्चात् श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्य जी यतीन्द्र के मत को प्रस्तुत करते हैं—

अत्रातुष्टा उभयनययोरैक्यमेव ब्रुवाणा
जिज्ञासायां जनिषु शुचितामप्यहोऽपेक्षमाणाः।
विष्वक्सेनप्रभुपदयुतिप्राप्तये बद्धकामा
आहुः सम्यग् निगमशिरसां तद्विचारं यतीन्द्राः।।५०।।

इस पूर्वोक्त श्रीशङ्कराचार्यजी के मत में असन्तुष्ट होकर मीमांसा और वेदान्त की एकता अर्थात् एकशास्त्रत्व का ख्यापन करते हुए तथा जिज्ञासा (वेदार्थविचार) में जन्म की पवित्रता की भी अपेक्षा करते हुए विष्वक्सेन श्रीमन्नारायण के चरणों में संमिश्रण की प्राप्ति के लिए उत्कट कामना से परिपूर्ण श्रीमद्‌यतीन्द्ररामानुजाचार्य जी वेदान्तों के उस विचार को कहते हैं।

मीमांसा और वेदान्त के ऐक्य के समर्थन में आचार्यश्री श्रीवृत्तिकार के इस वचन को उद्‌धृत करते हैं—

'संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन इति शास्त्रैकत्वसिद्धिः'। (बोधायनवृत्ति)

षोडशलक्षण अर्थात् सोलह अध्याय। यद्यपि जैमिनि की द्वादशलक्षणी मीमांसा प्रसिद्ध है तथापि चार अध्यायों में विभक्त संकर्षकाण्ड को लेकर षोडशलक्षण वाले जैमिनीयशास्त्र को कहा है। पूर्व और उत्तर मीमांसा का भेद प्रतिपाद्य अर्थ के भेद से होगा जैसे पूर्वमीमांसा में ही उपदेशात्मक विचार में प्रवृत्त पहले के छः अध्यायों से अतिदेशात्मक विचार में प्रवृत्त बाद के छः अध्यायों का भेद माना जाता है। दोनों मीमांसाओं के अनुशीलन के लिए जन्म की शुद्धता आदि आचार्य को अभीष्ट है जिससे सङ्कर जातियों की व्यावृत्ति सूचित होती है। जैसा कि कहते हैं—

'सत्सन्तानप्रसूत-सदाचारनिष्ठ-आत्मगुणोपेत.....'।

(श्रीभाष्य १।१।१)

यद्यपि ये आचार्य के गुण कहे गये हैं तथापि माणवक (वटु) में भी स्वीकरणीय हैं। क्यों? किसी प्रकार का विरोध न होने से और अपेक्षित होने से। ब्रह्मविचार के स्थिर फल को द्योतित करने के लिए ही 'विष्वक्सेनप्रभुपदयुतिप्राप्तये', यह कहा है जिससे कर्मों की अस्थिरफलकता अर्थात् सिद्ध हो जाती है। 'बद्धकामाः', इस पद से यतीन्द्र की परमकरुणा को व्यक्त किया है। जीवों को

भगवच्चरणों की प्राप्ति हो, इसके लिए वे सतत उद्योग से युक्त हैं, यह अभिप्राय है॥५०॥

ब्रह्मजिज्ञासा में विशेष रूप से हेतु का उपन्यास करते हैं—

अत्यन्ताल्पास्थिरफलकतां धर्मजिज्ञासयाऽत्र
ज्ञात्वाऽखण्डापरिमितफले बुद्धिमान् बद्धदृष्टिः।
जिज्ञासायां सपदि यतते ब्रह्मणस्तस्य विष्णो-
र्यस्माज्जन्मस्थितिपरिलयः श्रूयतेऽस्य श्रुतौ नः॥५१॥

यहाँ धर्मजिज्ञासा से कर्मों के अत्यन्त अल्प और अस्थिर फल को समझ कर बुद्धिमान् पुरुष अखण्ड और असीमित फल में दृष्टि लगाकर तत्काल उस व्यापक परमात्मा परब्रह्म विष्णु की जिज्ञासा में प्रयास करता है जिससे हमारी श्रुति में इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय सुना जाता है। जन्मस्थितिभ्यां सहितः परिलय इति समासः। इसका यह अभिप्राय है कि अधीतवेद पुरुष अध्ययन के क्रम से ही वेदवाक्यार्थों का विचार करता है। वेदवाक्यार्थ भी कर्मकाण्डप्रधान यागादिधर्म, उपासना और ज्ञानप्रधान ब्रह्म के भेद से तीन प्रकार के होते हैं जिनके प्रतिपादक वेद भी तीन भागों में विभक्त हैं। अन्तिम भाग को वेदान्त कहते हैं जिनका विचार स्थिर फल ब्रह्मप्राप्ति के लिए ही किया जाता है। पूर्वमीमांसा में धर्म का विचार करते हुए यदि उनके अस्थिर फल का ज्ञान होगा तो बुद्धिमान् को उस साधन की जिज्ञासा होगी जिसका फल स्थिर हो। कर्मों की अस्थिरफलकता के प्रतिपादक ये वचन हैं—

'तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छान्दोग्य. ८।१।६), **'अन्तवदेवास्य तद्भवति'** (बृहदारण्य. ३।८।१०), **'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'** (मुण्डक. १।२।७) ब्रह्मज्ञान की स्थिरफलकता के भी प्रतिपादक अनेक श्रुतिवाक्य हैं। जैसे—

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तैत्तिरीय. २।१।१), **'स स्वराड्भवति'** (छा. ७।२५।२) इत्यादि।

श्रीशङ्कराचार्यजी को अभीष्ट निर्विशेष प्रत्यगात्मरूप, सर्वाधिष्ठान चैतन्यमात्र ब्रह्मतत्त्व है, इसके निराकरण के लिए 'विष्णोः', यह पद है। वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य सर्वशेषी भगवान् विष्णु ही हैं। वे निरतिशयकल्याणगुणगणराशि हैं। जैसा कि श्रीमदाचार्य स्वयम् गीताभाष्य में कहते हैं—

'श्रियः पतिर्निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानः स्वेतरसमस्तवस्तु-विलक्षणानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपः स्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्य-वीर्यशक्तितेजःप्रभृत्यसंख्येयकल्याणगुणगणमहोदधिः स्वाभिमतानुरूपैक-रूपाचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्ज्वल्यसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्य-लावण्ययौवनाद्यनन्तगुणनिधिदिव्यरूपः स्वोचितविविधविचित्रानन्ताश्चर्यनित्य-निरवद्यापरिमितदिव्यभूषणः स्वानुरूपासंख्येयाचिन्त्यशक्तिनित्यनिरवद्य-निरतिशयकल्याणदिव्यायुधः स्वाभिमतानुरूपनित्यनिरवद्यस्वरूपरूपगुण-विभवैश्वर्यशीलाद्यनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणश्रीवल्लभः'।

(गीताभाष्योपक्रम)

यहाँ भगवान् के सारे विशेषणों से उनकी लोकोत्तरता का ही प्रतिपादन किया गया है।।५१।।

चोद्यपूर्वक यतीन्द्राभिमत यागादिधर्मों से भी भगवत्पूजन को कहते हैं—

अध्यायेषु प्रथयति किमु द्वादशस्वेव धर्मान्
यागादीनामवरफलताज्ञापनायैव विद्वान्।
नैतत् सर्वं मतिषु विलसेत् पामरस्यापि तस्माद्
विष्णोस्तैरप्यपचितिमहो मन्वते ते यतीन्द्राः।।५२।।

यागादि धर्मों का क्षयिष्णु फल है, यह उसको विचार के विना भी ज्ञात हो जायेगा जो साङ्गवेदों का अध्ययन कर लिया है फिर बारह अध्यायों में धर्म के विचार की क्या आवश्यकता है? इसी बात को तीन चरणों से व्यक्त किया गया है। विद्वान् जैमिनि ऋषि ने बारहों अध्यायों में ही धर्मों का ही जो प्रमाण-भेद आदि के

रूप में विस्तृत विचार किया है वह क्या याग आदि धर्मों के अधम अर्थात् क्षयिष्णु होने के कारण निकृष्ट फलों के ज्ञान के लिए ही किया है? यदि मूर्ख करे तो उन्मत्तप्रलाप भी कह सकते हैं, किन्तु ऐसी बात नहीं है क्योंकि जैमिनि विद्वान् हैं। कथमपि उन्मत्तप्रलापिता की आशङ्का नहीं की जा सकती, इस अर्थ के द्योतन के लिए 'विद्वान्' पद है। यागों के निकृष्टफलत्वज्ञापन के लिए ही भगवान् जैमिनि का इतना बड़ा प्रयास है, यह बात पामर (मूढ) की बुद्धि में भी अच्छी नहीं लगेगी अत: वे यतीन्द्र उन याग आदि धर्मों के द्वारा भी भगवान् विष्णु की पूजा ही स्वीकार करते हैं। जैसा कि उन्होंने कहा है—

'धात्वर्थस्य यागादेरग्न्यादिदेवतान्तर्यामिपरमपुरुषसमाराधनरूपता, समाराधितात् परमपुरुषात् फलसिद्धिश्च'। (श्रीभाष्य १।१।१)

यहाँ यह आशङ्का हो सकती है कि यदि यागादि धर्मों से परमपुरुष की आराधना ही होती है और आराधित परमपुरुष से स्थिरफल की प्राप्ति होती है तो उनके अस्थिरफलकत्व का कथन क्यों? उनका अस्थिर फल है, ऐसा भगवान् के इस वचन से भी सिद्ध होता है—

त्रैविद्याः सोमपाःपूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।

(गीता ९।२०-२१)

इस आशङ्का का समाधान गीता के इसी श्लोक में 'कामकामा:' पद से हो जाता है। काम्यन्त इति कामा: स्वर्गादयस्तान् ये कामयन्ते ते कामकामा:। अर्थात् भगवान् के उपासक भी यदि स्वर्गादि अस्थिर फल की कामना से उनकी उपासना करते हैं तो भगवान् उन्हें उन्हीं फलों को देते हैं। इसीलिए फलानुसंधान का त्याग करके केवल

भगवत्प्रीति के लिए ही कर्म करने का उपदेश है। आगे इसका विशेषतः स्पष्टीकरण होगा।।५२।।

मोक्ष के साधन भक्ति में अधर्म की प्रतिबन्धकता को कहते हैं—

वेदप्रोक्ता य इह निखिलाः सत्यदानादयोऽपि
धर्मास्स्युस्ते प्रभुचरणयोः प्रीतये व्याप्रियन्ते।
तेन प्रीतः स खलु भगवान् मुक्तये किन्त्वधर्मो
व्याधिग्रामो निधुवनमिव प्रायशस्तां रुणद्धि।।५३।।

केवल याग-होम आदि ही वेदप्रोक्त धर्म नहीं हैं। किन्तर्हि? निखिलाः। अर्थात् लोक में शिष्टप्रसिद्ध चौदहों विद्यास्थानों में समासतः या व्यासतः प्रतिपादित सूक्ष्म से लेकर स्थूल पर्यन्त जितने धर्म हैं सभी। इसी के स्फोरण के लिए कहा है—सत्यदानादयोऽपि। सत्य, दान और आदि पद से सकल स्मार्त एवम् आचारप्राप्त व्रतोपवास-तीर्थस्नान प्रभृति वेदप्रोक्त ही हैं क्योंकि प्रकारान्तर से लोकावगम्य होने से भोजनादि की तरह वे धर्म ही नहीं होंगे जो केवल वेदबोधित नहीं होंगे। धर्म वही होता है जिसकी इष्टसाधनता वेदबोधित होती हुई अन्य प्रमाणों से बोधित न हो। इन सभी धर्मों का व्यापार प्रभु के चरणों में प्रेमोत्पादन के लिए होता है। जैसा कि कहा है—

धर्मस्त्वनुष्ठितःपुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्।।

इन सारे धर्मों के अनुष्ठान से प्रसन्न हुए भगवान् मुक्ति के लिए होते हैं किन्तु अधर्म उस मुक्ति को उसी तरह रोक देता है जैसे शरीर में उत्पन्न हुआ व्याधियों का समुदाय निधुवन अर्थात् स्त्री-पुरुषों के संभोग को अवरुद्ध कर देता है। विचित्र ही कर्मों की गति होती है। अधर्म में संलिप्त मानव के ऊपर भी अजामिल आदि की तरह किसी जन्मान्तरीय पुण्यविशेष से भगवत्कृपा हो

जाती है और वह मुक्ति के लिए अग्रसर हो जाता है, इस तथ्य को ध्वनित करने के लिए 'प्रायश:' कहा है॥५३॥

'अथातो धर्मजिज्ञासा' में 'धर्म' पद को उपलक्षण मानकर त्याग के लिए वहाँ अधर्मजिज्ञासा को भी कहते हैं—

हानायैवं मुनिवर इहाधर्मजिज्ञासया वै
ज्ञानं तस्याभिलषति तथा श्रेयसे जैमिनिर्नः।
सालङ्कारैरपि गुणगणै र्भूषितात् कामिनीनां
देहान्नूनं भवति हि सदा दोषनिःसारणाऽपि।।५४।।

अधर्म मुक्ति के मार्ग में प्रतिबन्धक ही नहीं बनता, अपि तु नरकप्राप्ति का साधन भी होता है अत: उसके त्याग के लिए हमारे मुनिवर जैमिनि यहाँ श्रेय के लिए ही अधर्मजिज्ञासा के द्वारा उसके ज्ञान की इच्छा करते हैं। अलङ्कारों के सहित गुंणगणों से भूषित कामिनियों के शरीर से सदैव दोषों का नि:सारण भी अभीष्ट होता है। जैसे कोई कामिनी गुणालङ्कारों से सम्पन्न होती हुई दोषों के कारण हेय हो जाती है वैसे ही धर्मसम्पत्ति से सम्पन्न पुरुष भी अधर्मों के सेवन से मुक्ति के अयोग्य हो जाता है, अत: अधर्मत्याग के लिए उसका भी ज्ञान आवश्यक है॥५४॥

मुक्ति के साधन का यतीन्द्रमत से प्रतिपादन करके अधर्म की तरह पुण्य के भी त्याग को कहते हैं—

तत्तद्वर्णाश्रमसुविहितैः कर्मभिर्जायते या
भूयो भक्तिर्भगवति सदा मुक्तये कीर्तिता सा।
पापेऽच्छिन्ने कथमिव भवेत् काम्यधर्मेण तस्मात्
साकं वर्णी भुवि वितनुतेऽधर्मजातस्य नाशम्।।५५।।

अविद्या की निवृत्ति के लिए जो वेदान्तों में ब्रह्मज्ञान विहित है वह केवल वाक्यार्थज्ञान न होकर उससे अन्य ध्यान, निदिध्यासन, उपासन आदि शब्दों का वाच्य ज्ञान है। इसी को

सूत्रकार 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र ४।१।१), से कहते हैं। वही मोक्ष का साधन है। जैसा कि श्रीभाष्यकार कहते हैं—

'तदिदमपवर्गोपायतया विधित्सितं वेदनमुपासनमित्यवगम्यते, विद्युपास्त्योरव्यतिरेकेणोपक्रमोपसंहारदर्शनात्'। (श्रीभाष्य १।१-१)

यह ध्यानादिशब्दवाच्य वेदन तेल की धारा के समान विच्छिन्न न होने वाली स्मृति का वितानरूप है जिसे ध्रुवानुस्मृति भी कहते हैं। यह मोक्ष का साधन है, ऐसा छान्दोग्य में आया है—

'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'। (छान्दोग्यः ७।२६।२)

श्रीभाष्यकार भी कहते हैं—

'उपासनं स्याद् ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनाद् निर्वचनाच्च, इति तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यासकृदावृत्तस्य ध्रुवानुस्मृतित्वमुपवर्णितम्'।

(श्रीभाष्य १।१।१)

'एवंरूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते, उपासन-पर्यायत्वाद् भक्तिशब्दस्य'। (श्रीभाष्य)

इस ध्रुवानुस्मृतिरूप भक्ति के साधन यज्ञ दान आदि धर्म हैं। सुस्पष्ट किया है इसे भाष्यकार ने—

'एवंरूपाया ध्रुवानुस्मृतेःसाधनानि यज्ञादीनि कर्माणि'।

(श्रीभाष्य १।१।१)

इन्हीं सारी बातों को आदितः दो पादों से कहा गया है— उन उन वर्णों और आश्रमों के लोगों के लिए शास्त्रों में विहित यज्ञ-दान-होम-तर्पण-व्रतोपवास आदि कर्मों से उत्पन्न होने वाली भगवान् श्रीनारायण में प्रभूत भक्ति जो मुक्ति के लिए कही गयी है वह पापों का छेदन किये बिना कैसे हो सकती है? इसीलिए काम्य धर्मों के साथ ही वर्णी अर्थात् वर्णाश्रम-धर्मों का अधिकारी विद्वान् अधर्मसमुदाय का भी नाश करता है। 'वर्णी' शब्द आश्रमी का भी उपलक्षक है। काम्य धर्म बन्धन के हेतु होने से आचार्यों

के द्वारा पापों में ही परिगणित हैं। उनकी बन्धनहेतुता पूर्वोक्त ज्ञान के विरुद्ध होने के कारण है। कहते हैं श्रीभाष्यकार—

'ज्ञानविरोधि कर्म पुण्यपापरूपम्। ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिविरोधित्वेनानिष्टफलतयोभयोरपि पापशब्दाभिधेयत्वम्'। (श्रीभाष्य १।१।१)

एवञ्च, ज्ञानोदय अर्थात् भगवान् की भक्ति की प्राप्ति के लिए पाप कर्मों का नाश आवश्यक है। इनका नाश नित्य-नैमित्तिक धर्मों के अनुष्ठान से होता है क्योंकि इनमें स्वर्गादि फलों के लिए सङ्कल्प नहीं होता। तात्पर्य यही है कि ऐसे धर्मों का अनुष्ठान जीवनपर्यन्त होना चाहिये और निषिद्ध का वर्जन भी। यह अनुष्ठान अपने-अपने वर्णधर्मों और आश्रमधर्मों का अतिक्रमण करके भी नहीं होना चाहिये क्योंकि अतिक्रमण भी पापों में परिगणित है। श्रीमदाचार्यपदप्रवाल भी इसी तथ्य को सूचित करते हैं—

'अतश्च ज्ञानोत्पत्तये पापं कर्म निरसनीयम्। तन्निरसनञ्चानभिसंहितफलेनानुष्ठितेन धर्मेण। तदेवं ब्रह्मप्राप्तिसाधनं ज्ञानं सर्वाश्रमकर्मापेक्षम्'। (श्रीभाष्य १।१।१)

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि मुमुक्षु के लिए काम्य कर्म अनिष्टफलक होते हैं अतः उनके लिए वे धर्मपद के वाच्य नहीं होंगे और पाप कर्म के अन्तर्गत होंगे। जो मुमुक्षु नहीं हैं उनके प्रति वे धर्म ही कहे जायेंगे। अतः काम्यकर्मों से अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने वालों के प्रति भी भगवत्कृपा बनी रहती है क्योंकि वे भगवदाज्ञारूप वेदों के अनुशासन में रहते हैं॥५५॥

इसी विषय में मतत्रय का उपसंहार करते हैं—

विष्णुप्रीतौ यदिह सकलं कामयन्ते यतीन्द्रा
ज्ञानायान्तःकरणशुचितापादने तत् तथाऽन्ये।
धर्मायैवाभिलषतितरां जैमिनिः स्वात्मवित्तिं
वेदान्तोत्थां तत इति ततः प्राह मोक्षं महर्षिः।।५६।।

यतीन्द्र श्रीरामानुजाचार्यजी यहाँ सारे यागादि धर्मों का अनुष्ठान और अधर्म के परिवर्जन आदि को श्रीविष्णु के प्रति प्रीति अर्थात् भक्ति में स्वीकार करते हैं। अन्य श्रीशङ्कराचार्य जी के अनुयायी उन्हीं सारे प्रकारों को अन्तःकरण की शुद्धि में स्वीकार करते हैं ताकि प्रत्यगात्मा का संवेदन हो सके। 'मेधया पिहितः' (प्रश्नोपनिषद्) इत्यादि श्रुतियों के बल से सच्चिदानन्दस्वरूप, स्वयंप्रकाश, निर्विशेष परब्रह्मरूप निजात्मा मेधा अर्थात् अन्तःकरणरूप अविद्या से आच्छादित रहता है, यह बात सिद्ध होती है। अनादितः नानावैचित्र्य से संपृक्त वासनाओं से अवच्छादित अन्तःकरण जब तक शुद्ध नहीं होगा तब तक भेदप्रपञ्च का निवर्तक ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता अतः काम्यनिषिद्धों का वर्जन और नित्यनैमित्तिक धर्मों का अनुष्ठान केवल अन्तःकरण के शोधन में सहायक है। अन्तःकरण के शुद्ध होने पर यदि ब्रह्मावबोध हो गया तो उनकी कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा शाङ्कर मत है। कहते हैं श्रीसर्वज्ञात्ममुनि—

'वाक्योत्थापितबुद्धिवृत्तिरमला यज्ञादिभिर्निश्चला
वेदान्तश्रवणादिभिःस्फटिकवत् स्वच्छा सती तावकम्।
रूपं दर्पणवद् बिभर्ति परमं विष्णोः पदं सन्निधे-
रेतस्मादिह कारणादथ भवेत् संसारबीजक्षयः।।'

(संक्षेपशारीरक १।२४८)

अर्थात् यज्ञादि धर्मों के अनुष्ठान से निर्मल हुई तथा वेदान्तश्रवण से स्फटिक के समान बुद्धि (अन्तःकरणवृत्ति) स्वच्छ हो जाती है। इससे यह द्योतित करते हैं कि केवल धर्मादि के अनुष्ठान से ही अन्तःकरण की अशेषवासना का क्षय नहीं होता। ज्ञान से ही उसका क्षय होता है। श्रुतिस्मृतिद्वारा यह सिद्ध है—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।'

(मुण्डक २।२।८)

'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।।'

(गीता ४।३७)

इस प्रकार वह बुद्धिवृत्ति निर्विशेष परमात्मरूप विष्णु के परम पद को वैसे ही धारण कर लेती है जैसे दर्पण अपने मुख को ग्रहण करता है। ऐसा चिदात्मा के सन्निधान से ही होता है। परमेश्वरार्पणपूर्वक निष्कामतया अनुष्ठित निजवर्णाश्रमविहित यज्ञादि से रागादि मल के क्षपित होने से ही ऐसा सम्भव है। वेदान्तों के श्रवण-मनन आदि से वह बुद्धि निश्चल हो जाती है। अतः अनेक शाखाओं में विद्यमान भिन्न प्रकार के वाक्यों से अन्यथाज्ञानद्वारा असम्भावना-ग्रस्त नहीं होती। वैसी बुद्धिवृत्ति में ब्रह्मात्मतत्त्व का प्रतिफलन होता है अतः उसी समय आत्मा में संसारबीज का क्षय हो जाता है।

महर्षि जैमिनि का प्रकार इससे भिन्न है। दोनों आचार्य जिस धर्मानुष्ठान को भक्ति और अन्तःकरणशोधन द्वारा आत्मज्ञान के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं उसे जैमिनि साक्षात् स्वर्ग और अपवर्ग का साधन मानते हैं तथा वेदान्तजन्य आत्मज्ञान को धर्म की परिपूर्णता में सहायक मानते हैं। इसी बात को श्लोक के अन्तिम दो चरणों से कहा गया है। जैमिनि आत्मज्ञान को धर्म के लिए ही स्वीकार करते हैं। तेनैव कारणेन ततः = धर्म से ही महर्षि मोक्ष को कहते हैं। स्वर्गरूप पारलौकिक फल के लिए विहित अग्निष्टोम से लेकर अश्वमेध आदि महाकर्मों में प्रवृत्ति के लिए शरीर से अन्य नित्य कर्ता और भोक्ता के रूप में अवस्थित आत्मा के ज्ञान की आकाङ्क्षा की पूर्ति वेदान्तों के द्वारा होती है। अन्यथा विधि का प्रवर्तकत्व ही अनुपपन्न हो जायेगा जैसे भावना के इष्टभाव्यकत्व के अभाव में होता है। नित्यशुद्धबुद्ध अपहतपाप्मत्वादि रूप आत्मा का प्रतिपादन जो उपनिषदों में है उसे आत्मा के प्राशस्त्यप्रतिपादन में अर्थवाद मान लिया गया है। पूर्वोक्त ज्ञान के द्वारा जो हृदयग्रन्थि के छेदन और सारे कर्मों के क्षय की बात कही

गयी है उसे भी वार्तिककार श्रीमत्कुमारिलभट्ट ने अर्थवाद माना है। फलतः नित्यनैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा अनेक जन्मों के दुरितों (पाप) का क्षय एवं काम्यकर्मों को न करने से उनके फलों के उपभोग के लिए दूसरा जन्म नहीं होगा· तथा अधर्म के परिवर्जन से प्रतिबन्धकता भी नहीं रहेगी। फलतः हेतु के अभाव में मुक्ति सुनिश्चित होगी। इसी विधा को आगे भी ध्वनित करेंगे।।५६।।

मुक्ति के साधनों को ही सुस्पष्ट करते हैं—

बन्धायोच्चै रतय इव ये पुत्रदारादिकेषु
काम्याः सर्वे क्रकचकुटिलाधर्मजातेन सन्ति।
तेभ्यो बिभ्यत् तत इह सुधीर्नित्यनैमित्तिकाना-
मभ्यासेनाशयविदलने सज्जते भोगतोऽपि।।५७।।

पुत्र, पत्नी और आदि शब्द से वित्तमूलक भौतिक चाकचिक्य तथा सांसारिक प्रतिष्ठा में प्रीतियाँ जैसे बन्धन के लिए हुआ करती हैं वैसे ही सारे काम्य धर्म क्रकच (आरा) के समान फलदान में कुटिल अधर्मों के साथ बन्धन के लिए ही होते है। इसीलिए उनसे डरता हुआ सुधी = विद्वान् नित्य-नैमित्तिक धर्मों के अभ्यास से और भोग से भी आशय = अनेक जन्मों से अर्जित वासना के विदलन (विनाश) में तत्पर हो जाता है। भोग से उस पुण्य-पाप का क्षय होता है जो फल देना प्रारम्भ कर देता है। बादरायण ने ऐसा कहा है—

'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते'। (ब्रह्मसूत्र ४।१।१९)

इसका समर्थन श्रीभगवत्पाद भी करते हैं—

'साध्वेतदारब्धकार्यक्षये विदुषःकैवल्यमवश्यं भवतीति'। (वहीं)

उपमा अलङ्कार।।५७।।

सुकृत-दुष्कृत रूप अदृष्ट के ध्वस्त हो जाने पर बन्धन के लिए अन्य जन्म के अभाव को कहते हैं—

तत्तज्जन्मार्जितसुविपुलादृष्टतो योनयस्ता-
स्तत्प्रध्वंसात् कथमिव सदा देहिनां सम्भवेयुः।
तैलोत्सेकाच्छिरसि यमिनां चिक्कणे हीङ्गुदीनां
को वा शक्तः पुनरपि भिषक् कुन्तलोद्भावनाय।।५८।।

उन-उन जन्मों में अर्जित अत एव सुविपुल = अत्यधिक अदृष्ट के कारण प्राणियों की अनन्त जो योनियाँ हैं वे उस अदृष्ट के प्रकृष्ट रूप से ध्वस्त हो जाने पर कैसे सम्भव हैं? अर्थात् पूर्वोक्त जैमिनिमत के अनुसार केवल धर्मानुष्ठान से ही दुःखोपभोग के लिए शरीर की प्राप्ति ही नहीं होगी; क्योंकि उपभोग के कारण अदृष्ट का प्रध्वंस हो गया होता है। कौन ऐसा यहाँ वैद्य पैदा हुआ है जो इङ्गुदी का तेल लगाने से तपस्वियों के चिक्कन मस्तक में पुनः घुँघराले केश उगाने में समर्थ होगा? तात्पर्य यही है कि अपेक्षित कर्मानुष्ठान, अधर्मत्याग और प्रारब्ध के भोग से मुक्ति मिल रही है तो गड्डुभूत बीच में ज्ञान या भक्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। दृष्टान्त अलङ्कार।।५८।।

अब मीमांसकमत से मुक्ति के स्वरूप को कहकर उसमें यतीन्द्र-मत का समन्वय करते हैं—

दुःखेऽत्यन्तं क्षयमुपगते निर्वृतेर्भोगमेव
प्राहुर्मोक्षं यदि हि मनसा स्वात्मनस्तर्हि रूपम्।
संवित्सिद्धं श्रुतिनिगदितं स्वीकृतं मुद्घनन्तै-
स्तस्यालम्बो भवति भगवान् ब्रह्म नारायणो नः।।५९।।

तार्किक दुःखात्यन्तसमुच्छेद को मोक्ष कहते हैं जो अभिलषणीय न होने से त्याज्य है। शाङ्कर मत से सिद्ध निर्विशेषब्रह्मरूपता या निजप्रत्यग्रूपता आदि में भी उसी दोष की प्रसक्ति है। कौन स्वयं का ही विच्छेद करके निर्विशेष होना चाहेगा? अतः सुख का उपभोग ही मोक्ष है जो मन से होता है। ऐसा मानने पर सांसारिक सुख के उपभोग में अतिव्याप्ति हो जायेगी जिसके निराकरण के लिए

दुःख का आत्यन्तिक विगलन भी अभीष्ट है। अत एव भाट्टमत के निष्कर्ष को श्रीनारायणभट्ट व्यक्त करते हैं—

'दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा भुक्तिं मुक्तिमाहुः कुमारिलाः।।'

(मानमेयोदय)

इसी बात को श्लोक के दो पादों से व्यक्त करते हैं—पूर्वोक्त प्रकारों से दुःख के पूर्णरूप से नष्ट हो जाने पर मन से निर्वृति अर्थात् आनन्द के भोग को ही मोक्ष यदि कहते हैं तो उन मीमांसकों ने अपनी आत्मा के उस आनन्दघनत्व रूप को स्वीकार कर लिया जो अनुभव से सिद्ध है और श्रुतियों में भी उसका वैसा प्रतिपादन है। तथा हि—श्रुतिवचन हैं—

'आनन्द आत्मा'। (तै. २।५)

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'। (बृह. ३।९।२८)

स्वरूपभूत होते हुए भी उस आनन्द का उपभोग आलम्बन के बिना सम्भव नहीं है क्योंकि लोक में ललना आदि आलम्बन से ही आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। लौकिक वस्तु को ही आलम्बन मान लिया जाय तो वह अकिञ्चत्कर जैसा ही होगा। मोक्ष में कुछ विशेष होना चाहिये। इसीलिए श्रुति-स्मृति और पुराण आदि में प्रसिद्ध परब्रह्म हमारे भगवान् नारायण ही उस आनन्दोपभोगरूप मोक्ष के आलम्बन होंगे। सर्वथा मीमांसकों को परमात्मा सर्वशेषी प्रभु को स्वीकार करना ही पड़ेगा जो वेदादि शास्त्रों में गीत हैं।।५९।।

आगे अधर्म की काममूलकता को ध्वनित करने के लिए भगवान् के अपर स्वरूप का उपक्रम करते हैं—

तस्यैवान्यत् परमशिव इत्यस्ति नामाद्वितीयं
रूपं यस्मिन्नपि विलसितं नूलमन्योन्यदृष्टि।

अर्धेन स्त्रीमतुलितमहोऽर्धेन दृष्ट्वा पुमांसं
सेन्द्रा देवा नयनविषये निर्निमेषा अभूवन्।।६०।।

उसी परब्रह्म नारायण का दूसरा नाम परमशिव है जिसमें अद्वितीय रूप भी प्रकट हुआ है जो नया है और उसमें एक दूसरे को देखने के लिए पारस्परिक दृष्टि लगी हुई है। उस रूप में आधे भाग से स्त्री और आधे भाग से पुरुष अर्थात् अर्धनारीश्वर को देख कर इन्द्र के सहित सारे देवगण नयन के विषय में निर्निमेष (नेत्रपतन से रहित) हो गये। पहले देवता भी मानवों की तरह नेत्रपतन से युक्त थे। भगवान् का अर्धनारीश्वररूप जब उन्होंने देखा तो वे देखते ही रह गये। फिर कभी उनके नेत्रों का पतन नहीं हुआ। उन्हें अपने जीवन का प्रथम और अन्तिम आश्चर्य दिखायी दिया, यह अभिप्राय है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।।६०।।

भगवान् के वैसे रूप के धारण में हेतु की उत्प्रेक्षा करते हैं—

पूर्णप्रीतेःपरिणतिमिवोदात्तमूर्तिं दधानः
सर्वज्ञोऽसौ सुरतसमयं शिक्षयामास किन्नु।
न स्यादेवं यदि विसदृशां योषिताञ्चैव पुसां
साभिप्रायव्यतिकरविधौ स्वान्तवृत्तिःकुतः स्यात्।।६१।।

पूर्ण प्रेम के परिणाम की तरह उदात्त मूर्ति को धारण करने वाले वे भगवान् सर्वज्ञ जीवों को सुरत (सम्भोग) के आचार की शिक्षा तो नहीं दिये हैं। अवश्य स्त्री और पुरुष का एक ही शरीर में रूप धारण करके भगवान् ने यह बतलाया है कि इसी तरह परस्पर संश्लिष्ट होना स्त्री और पुरुष के लिए आवश्यक है, अन्यथा सृष्टि की प्रक्रिया बाधित हो जायेगी। यदि ऐसा नहीं होता तो अत्यन्त विपरीत धर्म वाली स्त्रियों और पुरुषों के मन की वृत्ति साभिप्राय अर्थात् कुछ रहस्यात्मक कार्य करने हेतु परस्पर मिलने की क्यों होती? उत्प्रेक्षा अलङ्कार।।६१।।

भगवान् की मन्मथदहनलीला को कहते हैं—

सन्तानार्थं कुलविटपिनः प्रार्थ्यते सादरं यः
स्त्रीपुंसाभ्यां सुकृतमिव तं पुष्पधन्वानमेव।
दृष्ट्वाऽकाण्डाक्रमणरसिकं भालनेत्रानलेन
वर्तिं स्नेहादिव विरहितां धूर्जटिर्द्राग् ददाह।।६२।।

'ऋतौ भार्यामुपेयात्', इस वचन से ऋतुकाल में पत्नीगमन विहित है। अगमन में प्रत्यवाय का श्रवण होने से नियमविधि ही है न कि कुछ वैष्णवों को अभीष्ट परिसंख्याविधि कि ऋतुभिन्नकाल में भार्यागमन नहीं करना चाहिये। अत एव अपने कुलवृक्ष के विस्तार के लिए स्त्री और पुरुष जिसकी सादर प्रार्थना करते हैं क्योंकि काम के बिना सुरत का सम्पादन ही नहीं होगा, प्रत्युत उसके प्रति रुचि ही नहीं होगी। फलतःकुल की वृद्धि ही अवरुद्ध हो जायेगी। ऐसे वैसे भगवान् काम की प्रार्थना नहीं होती। किन्तर्हि? सुकृतमिव। पुण्य की तरह। जैसे आस्तिक स्वर्गादि फलों के लिए पुण्य की प्रार्थना करते हैं वैसे ही। इस प्रकार से प्रार्थित होने वाले पुष्पधनु काम को अनवसर में ही आक्रमण में आतुर देखकर धूर्जटि भगवान् शिव अपने ललाटस्थनेत्र की अग्नि से शीघ्र ही तेल से रहित बत्ती की तरह जला दिये। स्नेह के अभाव में ही बत्ती अग्नि से जल जाती है वैसे ही ईश्वर से भय तभी होता है जब हृदय में प्रेम नहीं रहता, यह ध्वनि भी है। उपमा अलङ्कार।।६२।।

काम की दग्धता को देखकर नारियों की दशा का वर्णन करते हैं—

सौख्यस्यैवं जगति महतो लोपतस्तत्र भीताः
शीतोपेता इव युवतयस्तत्क्षणं वै विनीताः।
हा हा लोके कथमिव वयं हा हहेति प्रलापं
चक्रुस्तेन प्रभुरपि दयाकातरत्वं जगाम।।६३।।

इस प्रकार काम के भस्म हो जाने पर संसार में बहुत बड़े सुख के लोप से भयभीत हुईं युवतियाँ वैसे ही काँपने लगीं जैसे

उन्हें शीत लग गयी हो। उसी क्षण विनीत होकर यह कहते हुए विलाप करने लगीं कि संसार में हम कैसे रह पायेंगी हाय-हाय रे, काम तो भस्म हो गया, जीवित रहने का बहुत बड़ा कारण चला गया। भगवान् भी उनका उस प्रकार से प्रलाप सुन दया से कातर हो गये। तत्क्षणं वै विनीताः, से यही ध्वनित होता है कि युवतियों में विनय कहाँ? जब उनका स्वार्थ आहत होता है तो वे विनम्र होती हैं। उत्प्रेक्षा अलङ्कार॥६३॥

युवतियों के प्रति भगवान् के अद्भुत अनुग्रह को दो श्लोकों से व्यक्त करते हैं—

क्षीरे सर्पिस्ततिरिव तिले तैलवल्लम्पटेषु
हूर्च्छाहासोच्छ्रय इव महाप्राज्ञ इद्धात्मतेव।
धूर्तेष्वेवाधमकलियुगे शासकीयस्पृहेव
सर्वेषान्तं मनसि मदनं व्योमकेशश्चकार।।६४।।

दूध में घृत की श्रेणी की तरह, तिल में तैल की तरह, लम्पटों में हूर्च्छा और प्रहास की ऊँचाई की तरह, महापण्डितों में उद्दीप्त आत्मीयता की तरह तथा इस अधम कलियुग में होने वाले बहुतायत धूर्तों में शासकीय अभिलाषा की तरह व्योमकेश भगवान् शिव ने सारे प्राणियों के मन में मदन को पैदा कर दिया। जो मदन पहले बाहर से आक्रमण करता था उसे मन में अनुस्यूत कर दिया, अहो! ईश्वर की लीला विचित्र है। उपमा अलङ्कार॥६४॥

प्रीतेस्तं प्रत्यतिशयवशादाशुतोषस्तदानीं
मोक्षात् पूर्वास्पदमपि ददौ प्राणिनो यत्र रुद्धाः।
विस्मृत्याहो सहजसुहृदं शेषिणं तं मुरारिं
संसारेऽस्मिन् गहनकुहकाक्रान्त एव भ्रमन्ति।।६५।।

भगवान् शिव का एक नाम आशुतोष भी है। वे शीघ्र ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। उस समय काम के ऊपर इतना प्रसन्न हुए

कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष के पहले वाला स्थान भी दे दिया जिसमें अवरुद्ध होकर प्राणी अपने सहज सुहृद् (स्वाभाविक मित्र) शेषी उस भगवान् मुरारि को भूलकर उस संसार में भटकते रहते हैं जो गहन अन्धकार से आक्रान्त है। शेषाः सन्ति यस्य स शेषी। शेषत्वञ्च तदुद्देशप्रवृत्तकृतिकारकत्वेन विहितत्वम्। भगवदुद्देशेन प्रवृत्तस्य अथवा प्रवृत्तानां जीवानां तद्भक्त्यनुकूलायां कृतौ कर्तृकारकत्वेन वेदे विहितत्वाज् जीवानां भगवन्तं प्रति शेषत्वं मन्तव्यम्।।६५।।

विपरीतक्रम से सेव्य काम की अनर्थहेतुता को कहते हैं—

वैधत्वेनापचितिविषयः श्रेयसेऽपीह कामो
धैर्यत्यागादपि सुमनसां जायते खेदहेतुः।
लोके यावत् खरविकृतयो वृत्तयो वापि दुष्टाः
कुण्ठाकुत्साप्रभृतिवृतयस्तन्निमित्ता भवन्ति।।६६।।

ऋतुकाल में, पत्नी की कामना होने पर कदाचित् ऋतुभिन्न काल में, निजभार्या में, रात्रि में न कि दिन में भी और पर्वादिवर्जित काल से भिन्नकाल में तथा आयुर्वेद की दृष्टि से शीत ऋतु में काम का सेवन वैध माना है। वह काम इस प्रकार से पूजा का विषय होकर श्रेय के लिए होता हुआ भी धैर्यत्याग से विद्वानों के भी खेद का हेतु हो जाता है तो अन्य पामरों के विषय में कहना ही क्या है। उनको खिन्न कर ही देगा। इस संसार में जितनी प्रखर विकृतियाँ, दुष्ट वृत्तियाँ और कुण्ठा-कुत्सा आदि आत्मा के प्रत्यग्रूप को आच्छादित करने वाले अज्ञान होते हैं उनके मूल में काम ही है।।६६।।

अब पापमूलक काम से जो असन्तुष्टि होती है उसके मूल में दुर्भाग्य है, ऐसा कहते हैं—

कुन्दीभूते नियतिनिचये मानवानां मनोज-
पूजाऽत्यन्तं भवति शिथिला सान्तरायेव भक्तिः।

मांसाहारे तदनु मदिरास्वादनेऽन्याङ्गनासु
कुण्ठाग्रस्ताः प्रसृतमतयःपापपङ्के पतन्ति।।६७।।

जब मानवों की भाग्यराशि कुन्द हो जाती है तब उनकी काम-पूजा वैसे ही शिथिल हो जाती है जैसे विघ्नों से युक्त भक्ति। सांसारिक विषयों में आसक्त पुरुषों की भक्ति शिथिल हो जाती है और वह निःश्रेयसमार्ग से स्खलित होकर भटक जाता है। मदनपूजा की भी यही स्थिति है। ततः किम्? ऐसी जिज्ञासा होने पर उत्तर देते हैं—फलतः मांसभक्षण और उसके बाद मदिरा-पान और अन्यों की स्त्रियों के साथ रमण करने के लिए बुद्धि का विकास होता है। इस तरह कुण्ठा से ग्रस्त लोग पापपङ्क में गिरते हैं।।६७।।

समय पर काम के असेवन से अनर्थसंप्राप्ति को व्यक्त करते हैं—

केचिद् बाल्येऽनुचितसुरतस्फूर्तयो यौवने तु
षण्ढीयां तामनुपमदशां दुःखदां प्राप्नुवन्ति।
अन्ये तुर्याश्रमपदधिया बाल्यकाले विरक्ताः
पश्चात् कामज्वरविलुलिताः केवलत्वं व्रजन्ति।।६८।।

कुछ लोग बाल्यकाल में ही अनुचित ढंग से सुरतक्रिया में स्फूर्ति से सम्पन्न हो जाते हैं। 'तु' शब्द असीमित पश्चात्ताप के ध्वनन के लिए है। अपार कष्ट का विषय है कि जिस समय पूर्णतः काम का निषेवण आवश्यक है उस यौवनकाल में उस अकथनीय अनुभवैकगोचर, अत एव अनुपम नपुंसकता की दशा को प्राप्त हो जाते हैं जो दुःख ही देती है। कुछ अन्य लोग भाग्य के विपरीत होने से सन्यास-आश्रम की प्रतिष्ठा को प्राप्त करने की बुद्धि से बाल्यकाल में ही विरक्त हो जाते हैं और बाद में कामज्वर से विशेषतः छिन्न-भिन्न होकर कैवल्यपद प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ 'केवलत्वं व्रजन्ति', यह विपरीत लक्षणा से अर्थान्तर के ध्वनन के लिए है। अच्छा कैवल्यपद प्राप्त करते हैं। प्रायः ऐसे लोग ही

महिलाओं को काषाय पहना कर अपने पास रखते हैं। ऐसे लोगों के पास ही काषायित महिलायें बहुतायत में रहती हैं, यह अभिप्राय है। इन सारे कार्यों में भाग्य का कुन्द हो जाना ही हेतु है।।६८।।

काम की संतृप्ति के लिए कुछ लोगों की भीषण कुमार्गगामिता का वर्णन करते हैं—

गौडीमाध्वीमहिषगुटिकाकुक्कुटाण्डीयभक्षैः
क्षोभ्याक्षा ये बहुतरमिह क्षीणसत्त्वा रमन्ते।
तेषामागःपरिणतमनोव्यापृतीनामहीनां
गुह्ये कण्डूरिव मनसिजो वर्धते स्पर्धयेव।।६९।।

गौडी-माध्वी का ग्रहण हर प्रकार की मदिराओं के लिए उपलक्षणार्थ है। महिषगुटिका चरकसंहिता में प्रसिद्ध है जिसका सेवन सुरत में बृषभ जैसी ऊर्जा प्राप्त करने के लिए होता है। भैसे के पके मांस की घी में तली हुई बटिका का उसके मांस में पका हुआ व्यञ्जन। कुक्कुट्या अण्डम् = कुक्कुटाण्डम्। पाणिनीय अनुशासन से पुंवद्भाव है। मुर्गी के अण्डों से बने नाना प्रकार के भक्ष्य पदार्थ। बहुवचन भक्ष की विविधता के द्योतन के लिए है। इन सारे पदार्थों का जो सेवन करेगा उसकी इन्द्रियों में क्षोभ होना स्वाभाविक है। अत एव कहते हैं—क्षोभ्याक्षाः। अत एव क्षीणसत्त्वाः। सत्त्वमन्तःकरणम्। ऐसे लोग अन्दर से खोखले हो जाते हैं। क्यों? क्योंकि वे अत्यधिक स्त्रियों के साथ रमण करते हैं। ऐसी अवस्था में उनका मनोव्यापार अपराध में परिणत हो जाता है जिससे वे भुजङ्ग हो जाते हैं—अहीनाम्। ऐसे भुजङ्गो का काम शान्त हो जाता है, ऐसी बात नहीं है। वह तो मानों स्पर्धा करता हुआ गुह्याङ्ग में खुजली की तरह बढ़ता ही है। इस विषय में प्रसिद्ध गाथा भी है—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।'

हवि से आग जैसे बढ़ती है वैसे ही उपभोग से काम बढ़ता है अतः उसकी शान्ति उपासना, भगवद्भक्ति आदि से ही सम्भव है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलङ्कार॥६९॥

ऐसे में अब उन स्मृतियों की उपयोगिता को कहते हैं जिनके शोधन की बात श्रीप्रेमाचार्यशास्त्री जी जैसे लोग करते हैं—

प्रायश्चित्तैरपि च विमलैरर्हणीयैरुपायै-
र्दानैस्तीर्थाटनमनुजपैस्तर्पणैस्तत्सहायैः।
आविर्भूतागणितकरुणाकान्तयः कुत्सितांस्तान्
मन्वादीनां स्मृतिसुकृतयः सर्वथा शोधयन्ति।।७०।।

नाना प्रकार के प्रायश्चित्तों से (प्रायःपापं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधनम् अर्थात् पापशोधक प्रयोगों से) इसी का ही सुस्पष्टीकरण है—विमलैरर्हणीयैरुपायैः योग्य निर्मल उपायों से। यहाँ सामर्थ्यवाची 'अर्हणीयैः' पद से श्रुत्यवबोधित युगानुरूप व्यवस्था को प्रकट किया गया है। जैसा कि न्याय भी है—'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी' अर्थात् विधियों की प्रवृत्ति शक्तिसम्पन्न पुरुषों के प्रति ही होती है। अत एव युगक्रम से शक्ति के ह्रासदर्शन से प्रायश्चित्तों को हल्का कर दिया गया है। यह कार्य ऋषि ही कर सकते हैं इसलिए भोगियों को चाहिये कि वे स्मृतियों के प्रति अनर्गल प्रलाप बन्द करें। उपायविशेषों का ही द्वितीय पाद से कथन है—दानैरिति। सर्वत्र बहुवचन पापों के तारतम्य के अनुसार इन उपायों की विविधता के द्योतन के लिए है। स्मृतियों में पापानुसार अनेक प्रकार के दानों का विधान है। जो लोग खाने के लिए मछली आदि मारते हैं उनके लिए अलग दान, ब्रह्महत्या आदि के लिए भूमि, सुवर्ण, गृह, बगीचा आदि का महादान तथा तुलादान, गोदान एवं अन्नदान प्रभृति अनेक दान हैं जिसे हेमाद्रि आदि प्रबन्धों से समझ लेना चाहिये। इसी तरह तीर्थाटन, मन्त्रों के जप, तर्पण और इनके सहायक निरीह पुरुषों के भोजन वस्त्र आदि की व्यवस्था भी पापों

के शमन के लिए ही विहित है। हन्त! खेद की बात है कि किसी भी नेता के द्वारा श्राद्धभोजन का आयोजन नहीं सुनायी देता। जो लोग गाय-बैल-भैंसा-ऊँट के मांस से परहेज नहीं करते उनके लिए मुख्यमन्त्री-प्रधानमन्त्री तथा अन्य भूतपूर्व और वर्तमान मन्त्रियों के द्वारा लाखों व्यय करके बड़ी-बड़ी पार्टियाँ दी जा रही हैं। निरीह लोगों को कौन नेता पूछता है? आज भी उनका पालन-पोषण स्मार्त धर्म कर रहा है। यदि स्मृतियाँ और तत्प्रयुक्त रूढ़ियाँ न रहें तो अधिकांश जनता भूखों मर जायेगी। स्मार्त क्रियाकलापों में किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं है। सिर्फ करुणा की भावना है। इन्हीं सभी तथ्यों को हृदय में रखकर कहा गया है—आविर्भूतागणित-करुणाकान्तयः। इन सारे पापशोधक उपायों से प्रकट हैं अगणित अर्थात् अनन्त करुणा की कान्तियाँ जिनमें ऐसी मनु आदि शिष्ट त्रैवर्णिकों की स्मृतियाँ, उनकी ही हैं न कि लोभियों की, अत एव सुकृतयः = शोभनकृतयः। वे पूर्वोक्त उन कुत्सितों का शोधन हर तरह से करती ही हैं॥७०॥

क्या उन स्मृतियों को वेदों की तरह प्रमाण मान लिया जाय? इस तरह के श्रीप्रेमाचार्य जी के आक्षेप के समाधान के लिए स्मृतियों के वेदानुकूल्य का प्रतिपादन करते हैं—

सर्वांस्तान् मेदुरितदुरितव्रातबन्धानुदग्रान्
दूरीकर्तुं निगमजलधिः प्रोच्छलन् सञ्चकास्ति।
तस्यैवाहोऽनुगमनमिह प्रेयसीवानुकूला
शुद्धा शिष्टस्मृतिसुरसरित् साभ्यसूयं करोति।।७१।।

मनुष्यों के उन सभी प्रचण्ड पापों के बन्धों को दूर करने के लिए निगम (वेद) रूपी समुद्र अत्यन्त उछलता हुआ अतीव सुशोभित हो रहा है। अपौरुषेय होने के कारण वह निरस्तसमस्तपुंदोषपङ्क है, अत एव संचकास्ति सम्यक् चकास्ति। अहो! उस शुद्ध वेद सागर का यहाँ पर प्रेयसी के समान अनुकूल

हुई शुद्ध मन्वादि शिष्टों की स्मृति-रूपिणी सुरसरित् = गङ्गा असूया के साथ अनुगमन करती है। निःश्रेयस की विधा में वेद को तत्पर देखकर स्मृति भी मारे असूया के उसी के कार्य में बढ़-चढ़ कर तत्पर हो जाती है, यह अभिप्राय है। स्मृति में गङ्गा के आरोप से यह भी ध्वनित होता है कि जैसे अन्य नदियाँ गङ्गा से मिलकर समुद्र का अनुगमन करती हैं वैसे ही अन्य स्मृतियाँ मनुस्मृति से ऐक्य को आपन्न हुईं वेदानुगामिनी होती हैं। मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते, यह कहा भी गया है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा अलङ्कार।।७१।।

स्मृतियों के शोधन की वार्ता कदाचारी ही कर सकते हैं, ऐसा उपसंहार करते हैं—

दुर्वृत्तैरत्युपचिततनौ कालकूटोपमेऽस्मिन्
भूरि भ्रष्टे भट इव कलौ कुष्ठवद् दुश्चिकित्स्याः।
आस्माकीनाञ्छलयितुमिमान् हेतुभि दूर्षयन्त-
स्तस्या एव स्वयमशुचयः शोधनाय प्लवन्ते।।७२।।

दुराचारों से जिसका कलेवर अत्यन्त परिपुष्ट हो गया है ऐसे कालकूट विष के समान और अत्यधिक भ्रष्ट भट (पुलिस) के समान इस कलियुग में कुष्ठ की तरह कठिन चिकित्सा के योग्य जो स्वयं अशुचि (अपवित्र) हैं ऐसे लोग ही हम लोगों को ही ठगने के लिए दृष्ट दूषित हेतुओं से उसी शुद्ध स्मृति के शोधन के लिए उछल रहे हैं। जो स्वयं अशुचि हैं वे सदैव शुद्ध स्मृति के शोधन के लिए इसीलिए उछलकूद कर रहे हैं ताकि अपनों को ही छल सकें, इससे उनका मूर्खतातिशय ध्वनित हो रहा है। उपमा अलङ्कार।।७२।।

इस समय ही क्यों कुमार्गगामिता बढ़ रही है, इस विषय में साकूत प्रश्न करते हैं—

निर्मर्यादैरिव वनवृकैर्भेदकै र्धर्मसेतो-
र्लुण्टाकैस्तै र्यवनपतिभिः पीडिता धिक्कृताश्च।
पारम्पर्यं स्वनिधिमधना नात्यजन् ये वनस्था
दुष्यन्थानं कथमिह धिया तेऽधुना धारयन्ति।।७३।।

जो वन में रहने वाले (जिन्हें आज की राजनैतिक भाषा में अनुसूचित जनजाति कहकर अपमानित किया जा रहा है) उन लुटेरे, मर्यादा से शून्य, वन के भेड़ियों के समान, धर्मसेतु के भेदक यवनपतियों के द्वारा पीड़ित और तिरस्कृत होकर भी धन से शून्य रहकर भी अपनी ही निधि अपनी परम्परा का त्याग नहीं किये वे ही आज क्यों कुमार्ग (सनातन विधा से भिन्न मार्ग जिसे आज धर्मान्तरण कहते हैं) को धारण कर रहे हैं? जिनके पुरखे यवनों से प्रताड़ित होकर भी अपनी परम्परा नहीं त्यागे आज उनकी सन्तानें क्यों त्याग रही हैं? अवश्य उनको कोई बरगला रहा होगा, इस आशङ्का के निराकरण के लिए कहते हैं—धिया! बुद्धिपूर्वक त्याग रहे हैं अपनी परम्परा और स्वीकार कर रहे हैं कुमार्ग। निर्धन होकर नहीं त्यागे किन्तु आज आरक्षण आदि से मजबूत होकर त्याग रहे हैं, इस तथ्य को 'अधनाः', से ध्वनित किया गया है। उपमा अलङ्कार।।७३।।

ये वा ग्रामेष्वपि परिसरच्छिष्टदृष्टानुदारान्
स्वीयाचारान् न खलु विजहुः कन्दमूलान्युपास्य।
ते शङ्काशीविषविषहृतज्ञप्तयो दुर्विदग्धा
न्यायज्योतिर्ज्वलितसरणिप्रत्यनीकाःखलन्ति।।७४।।

जो गाँवों में भी रहते हुए कन्द-मूल आदि खाकर वहाँ पर विकसित शिष्टों में देखी गयी उदार अपनी आचारपद्धति का त्याग नहीं किये वे ही आज शङ्कारूपी भुजङ्ग के विष से अपहृत ज्ञान वाले होकर दुर्विदग्ध हुए मीमांसा-न्याय रूपी ज्योति से प्रज्वलित

सन्मार्ग से विपरीत होकर खलों जैसा आचरण कर रहे हैं? रूपक अलङ्कार।।७४।।

इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं—

मन्ये सामाजिकहृदि वसद्धर्मरूढिं कुरीतिं
व्याख्यातॄणां विषमधिषणाधोमुखीभिः क्रियाभिः।
जाताशङ्काः श्रुतिषु भगवत्कल्पमन्वादिकानां
तन्मूलासु स्मृतिषु च पुनः पूतिवृत्तिं भजन्ति।।७५।।

धर्म और धर्मशास्त्रों के प्रति वनेचरों और ग्रामीणों में जो अनास्था फैल रही है उसमें बाहरी लोग कारण नहीं हैं? किन्तर्हि? यहीं के ही दलदलिये कारण हैं जो सामाजिकों के हृदय में निवास करने वाली धर्मप्रसिद्धि की कुरीति के रूप में व्याख्या करते हैं और यही कहते हैं कि यदि धर्मशास्त्रों को नहीं बदला जायेगा तो सनातनमार्गी जनता टूट कर बिखर जायेगी। यह कैसे सम्भव है? इसके ही उत्तर में कहते हैं—विषमधिषणाधोमुखीभिः क्रियाभिः। अनादिकाल से चली आ रही धर्मपद्धति जब जन-जन की आत्मा में बस जाती है तो वह रूढ़ि का रूप लेती है। उसे कुरीति कहने वालों की विषमबुद्धि के प्रभाव से जो उनकी सारी क्रियायें ही अधोगामिनी हो गयी हैं उनके द्वारा श्रुतियों में और श्रुतिमूलक भगवान् के सदृश महिमा को प्राप्त मनु आदि की स्मृतियों में शङ्काग्रस्त होकर पुनः पुनः सड़ी वृत्ति अर्थात् सड़ा हुआ व्यवहार कर रहे हैं। हन्त! अपनों से ही भारत आज तिरस्कृत हो रहा है, यह ध्वनि है।।७५।।

अब धर्म और धर्मशास्त्रों के प्रति शिथिलता से होने वाले दुष्परिणाम को कहते हैं—

यद्भूभागेऽभवदघवतामाङ्लसंचोदनाभी
रूढिच्छेदप्रणयबहुलोऽध्वाऽधरीकृत्य शिष्टान्।

सोऽन्तःक्षोभं किमु न तनुते भारतादेव भिन्नो
धर्मग्लानौ भवति न कदा दुर्दशा दुःखहेतुः।।७६।।

इस भारतभूमि के जिस भाग में अंग्रेजों की प्रेरणा से पापियों का वह मार्ग प्रचारित हुआ जिसमें सनातन रूढ़ियों के छेदन के प्रति अधिकतर प्रेम था अर्थात् सुधारवादी आन्दोलन चला। कैसे यह कार्य सम्भव हुआ? शिष्टान् अधरीकृत्य। शिष्टों को नीचे करके। अथवा श्रुति-स्मृति में उपदिष्ट धर्मों को तिरस्कृत करके पाखण्डप्रधान वर्णाश्रमविरोधी मार्ग का प्रवर्तन हुआ। हे प्रेमाचार्य जी! क्या वह भाग भारत से ही कटकर अलग नहीं हो गया? अर्थात् पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के रूप में वह भारत से भिन्न ही हो गया। क्या वह आपके अन्तःकरण में क्षोभ पैदा नहीं करता? निश्चय ही धर्म की ग्लानि होने पर दुःखों का कारण दुर्दशा कब नहीं होती? दुःख देने के लिए दुर्दशा जो होती है उसमें धर्म की ग्लाग्नि और पाखण्ड की प्रबलता ही हेतु है, श्रौतस्मार्त धर्मों के प्रति आस्था नहीं, यह अभिप्राय है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।।७६।।

अब अवशिष्ट भारत में भी सुधारवादी धर्मद्रोहियों के अकाण्ड ताण्डव को व्यक्त करते हैं—

भीमोत्साहं भरतभुवि तत्स्मार्तधर्मद्रुहाणां
दुष्कृत्यं वा कलुषकपटप्रोतमाराद् विलोक्य।
आखुच्छिन्ने बहुविधबिलव्यूह एव प्रभीताः
साचिव्यादाविव कुपुरुषा भोगिनोऽरं विशन्ति।।७७।।

इस भारत की भूमि में उन स्मार्त धर्मों के द्रोहियों के भीषण उत्साह को या पापों और कपटों से ओत-प्रोत उनके दुष्कृत्य को देखकर साँप भी भयभीत हो गये हैं। भोगःफणा विषयसंप्राप्तिश्च अस्ति येषां ते भोगिनो भुजङ्गाः। वस्तुतः जो भोगी होते हैं वे दूसरों के बने बनाये आश्रय पर कब्जा कर लेते हैं। आज साँपों के भय की यह स्थिति है कि वे चूहों से खोदी गयी अनेक प्रकार की

बिलों में तेजी से प्रवेश वैसे ही कर रहे हैं जैसे साचिव्य (मन्त्रिपद) आदि पदों में कुत्सित नीच पुरुष प्रवेश कर रहे हैं। भुजङ्गों से भी भीषण सुधारवादी हो गये हैं, यह व्यतिरेकालङ्कार है जिसमें उपमा अलङ्कार की संसृष्टि है। इससे भारत की क्या दशा होगी? यह वर्णनातीत है, यह ध्वनि है।।७७।।

स्मृतियों के प्रति आक्षेप करने वाले कुत्सित दलों में प्रवेश करने से भगवद्रामानुजाचार्य के द्वारा मोक्ष के साधन के रूप में समर्थित ध्रुवानुस्मृति रूप भक्ति ही प्रभावित होगी, इस तथ्य को उजागर करते हैं—

भो आचार्या! भवदभिमतं किं समीचीनमस्ति
यत् सर्वेऽमी कुदलशरणं प्रेयुरित्याहुरत्र।
श्रीभाष्ये या भृशमभिहिता सा ध्रुवानुस्मृतिर्वः
सिद्धे कार्ये मतिरिव खले नैव तिष्ठेद् वराकी।।७८।।

हे आचार्य! क्या आपको जो अभीष्ट है वह ठीक है? क्या अभीष्ट है? वह तो आपके कथन से ही सुविज्ञेय है। जिस कुत्सित कार्य करने वाले दल के आप पक्षपाती हैं उसमें सारे वर्णाश्रमी प्रविष्ट हो जाँय, ऐसा आप कहते हैं। यद्यपि अभिधा से नहीं कहते किन्तु व्यञ्जना से कहते ही हैं। सभी का उस दल में प्रविष्ट हो जाना ही राष्ट्र के लिए श्रेयस्कर है, ऐसी भ्रान्ति को दूर करने के लिए ही अन्तिम दो पाद हैं। यदि शिष्ट भी उस दल में घुसने लगेंगे— वः सिद्धे कार्ये। शास्त्रीजी! यदि यह आपका मनोरथ सिद्ध हो जायेगा तो श्रीभाष्य में मोक्ष के लिए बार-बार आचार्यश्री के द्वारा कही जाने वाली ध्रुवानुस्मृति विचारी कहीं रह ही नहीं पायेगी। कैसे? खले मतिरिव। दुष्ट पुरुष में शास्त्रज्ञानजन्य निश्चय की तरह। अहो! जिस सम्प्रदाय से आपके पूर्वज और आप पलते आ रहे हैं उसी के पोषक मेरुदण्डायमान ग्रन्थ को दूषित कर रहे हैं, यह बड़ी कृतघ्नता आपकी है, यह ध्वनि है।।७८।।

पूर्वोक्त को ही दृढ़ करने के लिए धर्मशास्त्रों के ब्रह्मविद्या में उपयोग को कहते हैं—

सर्वास्वेव स्मृतिषु निहिता निष्कृतीनां प्रकारा
हृद्या हारावलिरिव नृणां दिव्यतामावहन्ति।
जिज्ञासायामधिकृतिरपि ब्रह्मणस्तत्प्रभावा-
दक्षुण्णा स्यात् तदपगमनेऽनर्थपातो बलीयान्।।७९।।

यावद्विहित कर्मों में तत्पर पुरुषों के द्वारा भी रागद्वेषप्रयुक्त अपराध हो ही जाते हैं। जैसा कि कहा गया है—

'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।।' (दुर्गासप्तशती)

ऐसे में प्रारब्धवश कहीं अपेयपान, अदृश्यदर्शन, अभक्ष्यभक्षण, अचोष्यचोषण, अगम्यागमन तो कहीं अज्ञानतः ही सही क्षुद्रजीव-हिंसा, सुहृद्भेद, ब्राह्मणावगूरण, असत्प्रतिग्रह, असत्यभाषण, मूर्खों के प्रति पक्षपात तथा विज्ञों के प्रति औदासीन्य, अपने अधिकार का दुरुपयोग, पत्नीतर्जन, पत्नीबुद्ध्यनुवर्तन, मातापितृवैरभाव, कपट, कुण्ठा आदि होते ही रहते हैं। ये सभी ब्रह्मविविदिषा के प्रतिबन्धक हैं, इसमें किसी की भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। धर्मशास्त्र अर्थात् सारी स्मृतियाँ इन कर्मों से जायमान दुरितों के उपशमन के लिए नाना प्रकार के क्रियाकलापों को प्रस्तुत करती हैं जो मनुष्यों के लिए भूषणायमान ही हैं। इन्हीं सारी बातों को दो पादों से व्यक्त किया गया है—सर्वास्वेव स्मृतिषु अर्थात् सारी स्मृतियों में न कि कुछ स्मृतियों में। इससे किसी भी स्मृति की उपेक्षा नहीं की जा सकती, यह ध्वनि है। निहित=विद्यमान जो भी निष्कृति अर्थात् पापशुद्धि के प्रकार हैं वे सभी हृद्य=हृदय के लिए हितकर रमणीय हारावली के समान मनुष्यों की दिव्यता का ही संपादन करते हैं। उन्हीं निष्कृतियों के प्रभाव से ब्रह्म की जिज्ञासा की संप्राप्ति होगी। एवञ्च सारी स्मृतियाँ निर्मलीकरण की विधा में

सहायक हैं, यह सिद्ध हुआ। सत्त्व की शुद्धि के बाद ही नित्यानित्यवस्तुविवेक होगा जो जिज्ञासा में कारण है। जैसा कि श्रीवाचस्पतिमिश्र कहते हैं—

'सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः प्राग्भवीयादैहिकाद् वा कर्मणो विशुद्धसत्त्वस्य भवति।' (भामती-१/१/१)

इस विषय में वाजसनेयियों का आम्नान भी है—

'तमेवैतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।' (बृह. ४/४/२२)

यहाँ 'तपः', शब्द निष्कृति को ही इङ्गित करता है।

'विशेषानुग्रहश्च' (ब्रह्मसूत्र-३/४/३८), से महर्षि वादरायण भी इसका समर्थन करते हैं कि स्मृतियों से अवगत जप-उपवास आदि से विद्या अनुगृहीत होती है। इतने से यह सिद्ध हो जाता है कि स्मृतियों पर प्रश्नचिह्न सकल विद्या पर प्रश्नचिह्न है। उपमा अलङ्कार।।७९।।

आज, जब कदाचार चरम पर है, अतः स्मृतियों की उपयोगिता बढ़ जाती है तो फिर उनकी उपेक्षा किसलिए? तथा च, कदाचार-प्रवर्तन को ही प्रस्तुत करते हैं—

ग्रामे ग्रामे भवति मदिरागारवृद्धिस्तथैव
शिक्षारामाः कलुषकपटावर्तनायोल्लसन्ति।
यत्रोन्मत्ता इव तरुणिमोद्गारवन्तः कुमार्गे
बद्धोत्साहा ऋषिभिरुदितां पद्धतिं दारयन्ति।।८०।।

आज अब गाँव-गाँव में मदिरालय की वृद्धि हो रही है, एवम् उसी तरह शिक्षा के केन्द्र भी कलुष और कपट व्यवहार के आवर्तन के लिए विकसित होने लगे हैं जहाँ पर तारुण्य के उद्गार से परिपूर्ण युवक मतवाले होकर कुमार्ग में उत्साहबद्ध हुए ऋषियों के द्वारा आविर्भावित मार्ग को विदीर्ण कर रहे हैं। तरुणिमा का उद्गार वैसे

ही भयावह होता है उसमें भी मदिरा और भोगप्रधान शिक्षा की चासनी चार चाँद लगा दे रही है, यह अभिप्राय है। उत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्ग अलङ्कार॥८०॥

साम्प्रतिक शिक्षा की अनर्थसामग्री को प्रकट करते हैं—

हिंसावृत्तिः परधनरति वैंपरीत्येन भोगः
पण्यस्त्रीणां ग्रहणपटुता धर्मपत्न्याः प्रहाणम्।
सेवाव्याजादधिगतगवां दुग्धविक्रेतृभावो
ब्रह्मद्वेषो मरुहृदयता यत्र गुण्या नराणाम्॥८१॥

सा वै शिक्षा जलनिधिरिव व्याप्य पूर्णां धरित्रीं
श्रेयःसूतिं दलयितुमलं वर्धते पूर्णिमायाम्।
गण्डस्फोटोऽपर इव लसन् मित्र! तत्रापि धर्मे
प्रोद्यच्चोद्यो भवदभिनयः किं सुकृत्यं न कुर्यात्॥८२॥

(युग्मकम्)

जिस शिक्षा में हिंसाप्रधान वृत्ति, दूसरों के धन के ऊपर प्रेम, विपरीतक्रम से भोग, विक्रय के योग्य स्त्रियों को ग्रहण करने की निपुणता, धर्मपत्नी का त्याग, सेवा के बहाने प्राप्त गायों के दूध का विक्रय, ब्राह्मणों के प्रति द्वेष और मरुस्थल के समान सूखा हृदय आदि मनुष्यों के श्रेष्ठ गुण माने जाते हैं वह शिक्षा पूरी पृथ्वी को व्याप्त करके श्रेय के कारणीभूत धर्मशास्त्रों को विदीर्ण करने के लिए पूर्णरूप से वैसे ही बढ़ रही है जैसे पूर्णिमा में समुद्र बढ़ता है। उस पर भी हे मित्र! शास्त्रीजी! आपका वह अभिनय जिसमें चोद्य (आक्षेप) ही अत्यन्त बढ़ रहा हो, क्या सुकृत्य नहीं करेगा? कैसा है वह अभिनय? गण्डस्फोटोऽपर इव लसन्। गालों के ऊपर घाव की तरह वह सुशोभित हो रहा है। आपके चोद्यप्रधान अभिनय से कदाचारों से पूर्ण यह धरित्री हो जायेगी, यह अभिप्राय है। उपमा अलङ्कार॥८१-८२॥

अब श्री प्रेमाचार्य शास्त्रीजी के चोद्यों की निरर्थकता को प्रकट करते हैं—

धर्माधर्मौ मनुजधिषणाकल्पितौ चेद् भवेतां
चोद्यं सर्वं भवदभिमतं तथ्यभूतं न किं स्यात्।
शास्त्रेभ्यस्तौ प्रमितवपुषौ लौकिकत्वाद् विहीनौ
विद्येयातां यदि वद तदा तस्य कीदृग् गतिः स्यात्।।८३।।

यदि धर्म और अधर्म मनुष्यों की बुद्धि से कल्पित होते तो हे शास्त्रीजी! आपको ही अभीष्ट आपका सारा चोद्य क्या यथार्थ नहीं होता? अर्थात् होता ही। किन्तु क्या किया जाय? धर्माधर्म तो चोदना से ही गम्य हैं—चोदनालक्षणत्वाद् धर्माधर्मयोः। इसी बात को कहते हैं—शास्त्रेभ्यस्तौ। 'शास्त्रादेव प्रमितः', यह कहा गया है। यदि धर्म और अधर्म का कलेवर शास्त्रों से ही निर्धारित होता हो और वे लौकिकता से शून्य हों तो आप ही कहिये! उस समय आपके चोद्य की क्या दशा होगी? दुर्दशा ही होगी पङ्कनिपतित वसनदरिद्र की तरह।।८३।।

यत्सिद्धान्तीकृतमिव भवत्फल्गु वक्तव्यमस्ति
नोक्तं तत् किं बहु सुनिपुणं पेटिकापूर्वपक्षे।
कृत्वाचिन्ताधिकरणगतै र्यो विरोधो वचोभिः
सिद्धान्तोक्त्याः पटुतरमते! दर्शितोऽसौ गरीयान्।।८४।।

आपका जो तुच्छ वक्तव्य है। कैसा? सिद्धान्तीकृतमिव। जो सिद्धान्त नहीं है उसे सिद्धान्त जैसा बना दिया गया है। उसका निरूपण क्या पातित्यपेटिका के पूर्वपक्ष में अत्यधिक निपुणतापूर्वक नहीं किया गया है। अर्थात् कर ही दिया गया है। हे पटुतरमते! सिद्धान्तपक्ष की युक्तियों का कृत्वाचिन्ता में बनाये गये अधिकरणों के पदार्थों से जो आपने विरोध प्रदर्शित किया है वह गरीयान् अर्थात् अब तक का संसार में सबसे बड़ा विरोध है। पूर्वपक्षीय

विचार ही कृत्वाचिन्ताधिकरण है वहाँ सिद्धान्त से विरोध होगा ही जिसे आपने अपनी कुशाग्र बुद्धि के कौशल का प्रयोग करके दिखाया है। शास्त्रीजी! इस विरोध को पामर भी समझ सकते हैं फिर आपने कौन सा तीर मार दिया? धन्य हैं आप॥८४॥

अब पूर्वपक्ष का सिद्धान्त के विरोध में उत्पन्न श्रीप्रेमाचार्यजी के प्रहास के परिणाम को कहते हैं—

सिद्धान्ताँस्तान् द्रढयितुमितः पूर्वपक्षे विरुद्धा
उक्ती दृष्ट्वा प्रहसति भवान् खण्डनार्थं निबद्धाः।
आलम्ब्याहो मनसि भवतस्तं प्रहासं गभीरा
अन्तर्लोला इव सुमनसो मुक्तकण्ठं हसन्ति॥८५॥

शास्त्रीय सिद्धान्तों को ही सुदृढ़ करने के लिए यहाँ पूर्वपक्ष में खण्डन के लिए ही निबद्ध विरुद्ध उक्तियों को देख करके आप प्रहास कर रहे हैं। अहो, यह मूर्खता का द्योतक अव्यय है। आपके उसी प्रहास को अपने मन में लेकर स्वभावतः गम्भीर होते हुए भी विद्वद्गण मानों भीतर से बहुत अधिक चञ्चल होकर यहाँ मुक्तकण्ठ से हँस रहे हैं। इसे कहते हैं हासनिमित्तक हास। आपकी अनवसर में होने वाली हँसी विद्वानों की हँसी का कारण हो गयी है, यह अभिप्राय है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार॥८५॥

पुनः प्रेमाचार्यजी की लेखनी का ही उत्तर देते हैं—

सोत्रासं यत् कथयति भवान् पेटिकाधर्मशुद्धि-
ग्रन्थद्वारा पतितपुरुषाः सूचिबद्धाः क्रियन्ते।
नैपुण्यं तद् ध्वनति भवतः कार्यमेतद् यतस्ते
पत्रे नामावलिरपि परा भासते साधु तेषाम्॥८६॥

आप सोत्रास यह जो कहते हैं कि पातित्यपेटिका और धर्मशुद्धि ग्रन्थ के द्वारा पतित पुरुषों को सूचिबद्ध किया जा रहा है, वह आपकी निपुणता को ध्वनित करता है क्योंकि यह मेरा

नहीं आपका कार्य है। आपके पत्र में ही उनकी प्रकृष्ट नामावली सुशोभित हो रही है। पृ.सं. १५ से आपने लङ्घन करने वालों को गिनाया है। वे इस प्रकार हैं—

१. धर्मचन्द्रोदय मठ, चान्दोद के कुलपति सर्वदर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक जगद्गुरु रामानुजाचार्य श्रीअनिरुद्धाचार्यजी महाराज और गुजरात के ही मुनिवर श्रीरामचन्द्रजी महाराज।

२. समन्वयकुटीर के प्रणेता स्वामीश्रीसत्यमित्रानन्द गिरिजी महाराज।

३. पुरीपीठाधीश्वर ब्रह्मलीन जगद्गुरुशङ्कराचार्य स्वामिश्रीभारती-कृष्णतीर्थजी महाराज।

४. श्रीप्रभुपादभक्तिवेदान्तस्वामी (यद्यपि वे कायस्थ थे अतः पतित नहीं माने जायेंगे तो भी म्लेच्छों को यज्ञोपवीत देने से तथा स्वयम् में भी उसी तरह प्रतिष्ठित होने से धर्मलङ्घी हैं ही)।

५. आपके पितृचरण शास्त्रार्थमहारथी पं. श्रीमाधवाचार्यशास्त्रीजी।

६. उक्त महापुरुषों के द्वारा प्रशस्तमार्ग का अनुसरण करने वाले श्रीप्रेमाचार्य शास्त्रीजी महाराज सोलह बार पतित हुए॥८६॥

अब श्रीप्रेमाचार्यशास्त्रीजी द्वारा किये गये भृत्याध्यापन के प्रति आक्षेप का समाधान बारह श्लोकों से करते हैं—

शास्त्रज्ञानप्रथितयशसो ये तु भूरिश्रमेण
शिक्षागारश्रियमविकलां ते विधातुं नियुक्ताः।
आढ्यद्वारे स्रवदतिमदस्वच्छकायो महीयान्
मातङ्गः किं भवति भृतये गर्दभैस्तुल्यधर्मा॥८७॥

जो विपश्चित् बहुत अधिक परिश्रम करके अपने शास्त्रज्ञान से कीर्ति का विस्तार कर चुके हैं वे शास्त्रीय शिक्षा के आलयों में अविकल शोभा बनाने के लिए ही नियुक्त हैं। धनिकों के दरवाजे पर बहते हुए अपने मदजल से स्वच्छ शरीर वाला भारी हाथी क्या

कभी गदहों के समान आचरण करने वाला भृति (वेतन) के लिए होता है। प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार॥८७॥

उक्त अर्थ में आचार्य कौटिल्य की सम्मति प्रदर्शित करते हैं—

चाणक्येन स्फुटमभिहिता कौटिलीयार्थशास्त्रे
संमानार्थं परमविदुषां भूयसी दक्षिणा सा।
विद्यावृद्धिः सततमभवत् तद्गृहेष्वेव सम्यक्
शास्त्राभ्यस्तः क्षणमपि न हि क्षीयते स्वीयधर्मात्।।८८।।

परम विद्वानों के सम्मान के लिए पर्याप्त धनराशि प्रतिमास उन्हें दक्षिणा के रूप में देनी चाहिये, ऐसा अपने 'कौटिलीयार्थशास्त्र' ग्रन्थ में चाणक्य ने सुस्पष्ट कहा है। उस धन का उपयोग वे विद्वान् विद्यावृद्धि में ही करते थे। तथा चाह—उनके घर में ही ठीक से विद्याओं की वृद्धि भी होती थी क्योंकि शास्त्रों का पर्याप्त अभ्यास करने वाला पुरुष अपने सतत अध्यापन रूप धर्म से एक क्षण के लिए भी क्षीण नहीं हो सकता। उसका सतत उद्योग जारी रहेगा। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार॥८८॥

इसी बात को स्थूणानिखननन्याय से दृढ़ करते हैं—

त्यक्त्वा वृत्तिं वसुरतिपरां तत्त्वचिन्तानुसक्ता
विप्रोत्तंसा गृहमुपगतान् पाठयन्त्येव सर्वान्।
तेषामेवातुलिततपसा शास्त्ररक्षा न शिक्षा-
गारेऽभूत् सा न भवति सखे! त्वं विजानीहि तथ्यम्।।८९।।

धन में पर्याप्त प्रीति ही हो जिसमें, ऐसी वृत्ति का परित्याग करके केवल तत्त्वचिन्तन में ही लगे रहने वाले पृथिवी के भूषणस्वरूप श्रेष्ठ विद्वान् घर में आये सारे विद्यार्थियों को पढ़ाते ही हैं। उन्हीं तपस्वियों के अनुपम तप से शास्त्रों की रक्षा भी होती है। वह शास्त्ररक्षा विद्यालयों में न कभी हुई है और न ही कभी होगी। हे मित्र! इस तथ्य को तुम ठीक से जानो!॥८९॥

ऐसे विद्वानों की पूजार्हता को प्रकट करते हैं—

एतल्लोकोत्तरसुमनसां पादयोरर्पिता श्रीः
स्वल्पैव स्यात् त्रिभुवनपतेरप्यहो त्वं तथापि।
भृत्यै कार्यं विदधति बुधा इत्यभाणीरभद्रं
प्रायः स्वार्थे भवति विकला मानवानां हि दृष्टिः।।९०।।

इस तरह के निःस्पृह और कर्तव्यनिष्ठ विद्वान् लोकोत्तर होते हैं। उनके चरणों में अर्पित त्रिभुवनपति की श्री भी अत्यन्त अल्प होती है तो भी आप शास्त्रीजी! यह अभद्र बोल गये हैं कि विद्वान् भृति के लिए कार्य करते हैं। आपका यह कहना ठीक ही है क्योंकि स्वार्थ में प्रायः मानवों की दृष्टि विकल हो ही जाती है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।।९०।।

किसी तरह विद्वानों के द्वारा स्वीकृत पद अब पिशुनों की प्रतिष्ठा के स्थान हो गये हैं, यह व्यक्त करते हैं—

पूर्वन्तावद् बुधवरगणै र्धिक्कृतान्येव पश्चात्
भूयोयाच्ञासदयहृदयैः स्वीकृतानीह यानि।
तान्येवाल्पश्रुतजडधियां सुप्रतिष्ठास्पदानि
जातान्यद्यच्छलविहृतये शास्त्रशिक्षापदानि।।९१।।

पाठशालाओं में स्थापित शास्त्रशिक्षण के पदों को पहले श्रेष्ठ विद्वानों ने धिक्कार दिया था किन्तु बाद में जब उनसे बार-बार याचना की गयी कि आप लोगों से ही उन पदों की शोभा है। आप उन पर आसीन नहीं होंगे तो पाठशालाओं की ही शोभा नहीं रहेगी। ऐसे में दया से परिपूर्ण हृदयवाले उन विद्वानों ने उन पदों को स्वीकार किया था। आज वे ही पद अल्पश्रुतानाम्, अल्पं श्रुतं शास्त्रज्ञानं येषां तेषाम्, अत एव जडधियाम्। जिनका शास्त्रज्ञान अल्प है, इसीलिए जडबुद्धि मूर्खों की प्रतिष्ठा के स्थान हो गये हैं। मूर्ख भी उन पदों पर आसीन होकर आज सुप्रतिष्ठित हो रहे

हैं, यह अभिप्राय है। क्यों वे विराजमान हैं? छलविहृतये। छलपूर्वक विहार करने के लिए। इससे पाठशालाओं में कदाचार की पराकाष्ठा ध्वनित होती है॥९१॥

मूर्खों के पदारूढ़ हो जाने पर उसके प्रभाव को कहते हैं—

धिक् कष्टं यत् परमपिशुनैराहृतान्येव तानि
दोषज्ञानां मनसि मसृणे शल्यभूतान्यभूवन्।
येभ्यः स्थाणोरिव खगवराःशास्त्रवादाःप्रयाता
आयाताश्च व्यसनबहुला राजनीतिप्रवादाः।।९२।।

धिक्कार है और बहुत बड़े कष्ट की बात है कि परम चुगलखोरों ने उन पदों पर अपना कब्जा पूर्णरूप से बना लिया है। उनसे आक्रान्त वे शास्त्राध्यापन के लिए बनाये गये पद दोषज्ञों अर्थात् विद्वानों (विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः, अमरकोश) के कोमल मन में काटों की तरह हो गये हैं। जैसे ठूँठ से श्रेष्ठ पक्षी पलायन कर जाते हैं और वहाँ उल्लुओं की वाणी विराजमान हो जाती है वैसे ही उन पदों से अब शास्त्रवादों का पलायन हो गया है और वहाँ बहुत अधिक विपत्ति वाले राजनीति के प्रवाद आ गये हैं। उपमा अलङ्कार॥९२॥

पूर्वोक्त तथ्य को पुनः स्थूणानिखननन्याय से दृढ़ करते हैं—

इत्थम्भूतस्थितिमति कदाचारशिक्षाप्रधाने
विद्यागारे गहनगुरवो गर्दभीयन्ति शिष्यान्।
ब्रह्मज्ञानामविचलतपोमूर्तयस्तत्प्रबन्धा
गाढोपेक्षाविगलितगुणा अन्धकूपीभवन्ति।।९३।।

जहाँ इस प्रकार की स्थिति हो गयी हो ऐसे उस विद्यागार में जहाँ कदाचारों की शिक्षा ही प्रधानतया होती है, आज गहन गुरुजन शिष्यों को अपना गदहा बनाना चाहते हैं। गहनगुरवः, इससे कपट की पराकाष्ठा ध्वनित होती है। गर्दभीयन्ति = आत्मनः

गर्दभानिच्छन्ति। ऐसे में परिणाम भी भीषण होगा जिसे अन्तिम दो पादों से व्यक्त किया गया है—ब्रह्म = वेद और सर्वान्तर्यामी प्रत्यक्चैतन्य या सकलस्थूलसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट भगवान् नारायण। इनको जानने वाले महापुरुषों की तपस्या के मूर्तिमान् रूप इनके प्रबन्ध = ग्रन्थ प्रगाढ उपेक्षा के शिकार होकर मानो गुणहीन होकर अन्धे कूप हो गये हैं। रूपक-उत्प्रेक्षा अलङ्कार।।९३।।

अब वास्तविक भृत्याध्यापकों का निरूपण करते हैं—

अध्यास्योच्चैःपदमपि तु यैः पाठिता नैव शिष्याः
सेवामुक्तेः परमिह च ते शास्त्रलोपात् प्रभीताः।
प्राप्याकुप्यं कथकधनिनो वस्वहोऽध्यापयन्ति
विद्यागन्धप्रणयविधुरान् द्रव्यलाभेन तृप्तान्।।९४।।

जो शासन से व्यवस्थित, अध्यापक के ऊँचे पद को प्राप्त करके भी शिष्यों को नहीं ही पढ़ाये वे ही सेवाकार्य से मुक्त होने के बाद इसीलिए अत्यन्त भयग्रस्त हो जाते हैं कि अब तो शास्त्रों का लोप ही हो जायेगा—शास्त्रलोपात् प्रभीताः। बड़े बड़े धनिक मठाधीशों से कहते हैं कि शास्त्रों की रक्षा के लिए कुछ किया जाय। कम से कम जो बूढ़े विद्वान् हैं उनको दश सहस्र देकर तथा एक-एक सहस्र की छात्रवृत्ति देकर चार-चार शिष्यों को सौंप दिया जाय। ऐसा होने पर ही शास्त्रों को बचाया जा सकता है, नहीं तो वे विचारे कुछ पशुओं की प्रजातियों की तरह लुप्त ही हो जायेंगे, यह अभिप्राय है। इस भगीरथप्रयास का उन्हें बेनीफिट नहीं मिलता, ऐसी बात भी नहीं है। मिलता ही है वह। कैसे? आह—कथकधनिनोऽकुप्यं धनं प्राप्य अध्यापयन्ति ते। कथकधनिनः, इस पद से यही ध्वनि निकलती है कि आज गाजे-बाजे के साथ कथा कहने वाले धनी हो जा रहे हैं, विद्वान् तो निर्धन ही हैं। क्या बुद्धिवैशद्य है भारतीय समाज का? ऐसे कथावाचक धनी पुरुष से पर्याप्त धन प्राप्त करके वे अध्यापन कार्य कर रहे हैं। अहो,

यह खेदसूचक अव्यय है। किनको पढ़ा रहे हैं? जिनका विद्या के गन्ध में भी प्रेम नहीं हैं। फिर वे शास्त्र पढ़ क्यों रहे हैं? क्योंकि वे द्रव्यलाभ से तृप्त हैं। तात्पर्य यही है कि जो द्रव्य को ही प्रधान मान कर सुकुमारमति राजकुमार आदि को पढ़ाते हैं वे ही भृत्याध्यापक हैं। विद्या की रक्षा में तत्पर मनस्वी विद्वान् कथमपि भृत्याध्यापक नहीं हैं।।९४।।

ऐसे ही विद्वान् आज सम्मानित हो रहे हैं, यह तथ्य प्रकट करते हैं—

सभ्यानेतान् मठपतिमहामान्यभूतानपूर्णान्
पीठाध्यक्षा बहुविधपुरस्कारजातैरजस्रम्।
लोकापेक्षातिशयितगुणख्यापनै र्मानयन्ति
सर्वारम्भा विधिविरहिणां ह्यत्र वन्ध्या भवन्ति।।९५।।

जो सभा में साधु हों उन्हें सभ्य कहते हैं। ऐसे पूर्वोक्त सारे सभ्य मठाधीशों के मान्य ही नहीं होते, अपि तु महामान्य हो गये हैं फिर भी अपूर्ण होते हैं, अपि शब्द के अभाव के कारण यहाँ विरोधाभास अलङ्कार ध्वनि है। आन्तर दारिद्र्य से अपूर्णता है, इस तरह विरोध का परिहार हो जायेगा। ऐसे लोगों को पीठों के अध्यक्षगण हमेशा लोक में प्रसिद्ध जो औदार्य-बुद्धिवैचक्षण्य-सहृदयधुरीणत्व-सकलविद्यावारपारीणत्व आदि गुण हैं, इनसे भी अतिशय से सम्पन्न गुणों का गान करते हुए भाँति-भाँति के अनेक पुरस्कारों से सम्मानित करते हैं। तब तो पीठाध्यक्षों का कार्य निरर्थक हुआ? इसमें क्या सन्देह है। इसी का समर्थन अर्थान्तरन्यास से किया गया है—सर्वारम्भा विधिविरहिणां ह्यत्र वन्ध्या भवन्ति। जो भाग्य से शून्य होते हैं उनके सारे कार्यों का आरम्भ निष्फल ही हुआ करता है। विशेष का सामान्य से समर्थन होने के कारण यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।।९५।।

ऐसे लोगों से विद्या की रक्षा सम्भव नहीं, यह प्रकट करते हैं—

नेतृणां किं कलुषितपदैर्भाषणैस्त्वादृशानां
हेतुं दृष्ट्वा विदलितफलैः किन्नु धर्मप्रचारैः।
किं वा सेवाच्युतबुधजरत्पुङ्गवानां विलासैः
संरक्ष्यन्ते भुवनविदिताः पण्डितानां प्रबन्धाः।।९६।।

चौदहों विद्यास्थानों के ऊपर रचित भाष्य और उन पर लिखी गयीं व्याख्यायें एवं उपव्याख्यायें, महाकवियों के महाकाव्य, काव्यों के तत्त्व के विवेचन में तत्पर ध्वन्यालोक आदि ग्रन्थ तथा तत्तद्विद्याओं को लेकर बनाये गये स्वतन्त्र प्रकरण ग्रन्थ। ये सभी पण्डितों के प्रबन्ध हैं और भुवनविदिताः अर्थात् सारे लोकों में विख्यात हैं। इनकी रक्षा क्या नेताओं के उन भाषणों से होती है जिनमें कलुषित पदों की भरमार हो? या शास्त्रीजी! आप जैसे लोगों के द्वारा किये जाने वाले उन धर्मप्रचारों से होती है जो दुष्ट हेतुओं का अन्वेषण करके 'क्यों' आदि के रूप में दिये जाते हैं और जिनका वास्तविक शास्त्रदृष्ट फल विदीर्ण कर दिया जाता है? किं वा, सेवाकार्य से विमुक्त उन पूर्वोक्त बुधजरत्पुङ्गवों के विलासों से होती है? नहीं। पण्डितों के प्रबन्धों की रक्षा इनसे नहीं होती।।९६।।

यदि इनसे नहीं होती तो किनसे होती है? इस प्रश्न का उत्तर तपस्वी विद्वानों के वर्णन के द्वारा देते हैं—

ग्रन्थग्रन्थिप्रणिहितदृशस्तत्समाधानसक्ता
विद्यासिद्धौ सुयतय इव ब्रह्मसेवानुरक्ताः।
दैवात् प्राप्तं पदमपि वृथाभारभूतं प्रभूता-
शौचं मत्वा सपदि सुधियोऽध्यासवत् सन्त्यजन्ति।।९७।।

अधिकरणसमूहो ग्रन्थः। पञ्चाङ्गकं वाक्यमधिकरणम्। पञ्चाङ्गानि विषयादीनि। यथा चाहुः—

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।।

ग्रन्थों की ग्रन्थियाँ होती हैं यज्ञोपवीत में ब्रह्मग्रन्थि की तरह। ग्रन्थि = गाँठ। गुरुओं की कृपा से उन ग्रन्थियों का भेदन होता है जिसमें एकतानता और सारस्वत कृपा की आवश्यकता होती है। ऐसे अवसरों पर सांख्यसिद्धान्त की यथार्थता समझ में आती है। सत्त्व, रजः और तमः, ये त्रिगुण हैं। दो गुणों को दबाकर कोई एक गुण अपना साम्राज्य स्थापित करता है। जैसा कि श्रीभगवान् ने कहा है—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।
(गीता १४।१०)

सत्त्व का उद्रेक ज्ञान का कारण है और तमः का उद्रेक अज्ञान का। जैसा कि वे ही भगवान् कहते हैं—

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।। (गीता १४।१७)

कभी-कभी पण्डितों के हृदय में तमोगुण का आवरण हो जाता है फलतः ग्रन्थों की गुत्थियों में मन उलझ जाता है। वही पूर्वोक्त एकतानता के बल से सत्त्व का उद्रेक होने से मन उन गुत्थियों को सुलझा लेता है तभी अपार सुख की प्राप्ति विद्वान् को होती है। कहते ही हैं भगवान्—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।। (गीता १४।६)

इसीलिए यावत् शास्त्रोदित कर्म करने वालों के लिए ही शास्त्र हैं। शासन आज उन्हें भी शास्त्रज्ञ बना देना चाहता है जिनकी चर्चा 'गौडीमाध्वीमहिषगुटिकाकुक्कुटाण्डीयभक्षैः', इत्यादि श्लोकों के

द्वारा कर दी गयी है और जिनका सम्पर्क भी शिष्टों के लिए बहुत बड़ा पातक है। अस्तु! विद्वान् अपनी दृष्टि ग्रन्थों की ग्रन्थियों में लगाये रहते हैं। उनका यह कार्य दम्भ के लिए भी हो सकता है जिसके निराकरण के लिए कहा गया है—तत्समाधानसक्ताः, अर्थात् वे ग्रन्थों की ग्रन्थियों के समाधान में लगे रहते हैं। वे विद्या = कर्मौपयिक अर्थज्ञान के सम्पादन में लगे रहते हैं। अत एव ब्रह्मसेवानुरक्ताः। ब्रह्म = वेद और ब्राह्मण की सेवा में लगे रहते हैं क्योंकि इन्हीं के अधीन श्रौत स्मार्त धर्मों का अनुष्ठान है। कैसे? आह—सुयतय इव। शोभन अर्थात् जिस प्रमाता का ब्रह्मविद्या में अधिकार है, ऐसे शास्त्रीय संन्यासी की तरह। वैसे संन्यासी भी प्रपञ्चपराङ्मुख होकर ब्रह्म = प्रत्यक्तत्त्व सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् नारायण की सेवा में लगे हुए विद्या = ब्रह्मज्ञान, यतीन्द्र के मत से ध्रुवानुस्मृतिरूप भक्ति के संपादन में तत्पर रहते हैं। इस प्रकार के सुधियः = शोभना धीर्येषाम् अर्थात् विद्वान् तथा सुयतिपक्ष में शोभनं ब्रह्म ध्यायन्तीति ब्रह्म का ध्यान करने वाले दैवात् = पूर्वकृत सुकृत के कारण प्राप्त हुए प्रतिष्ठित पद को प्रभूत आशौच = सूतक मानकर अध्यास के समान त्याग देते हैं। जैसे सुयति मायारूप अध्यास का त्याग करते हैं वैसे ही वे विद्वान् प्राप्त हुए पदों पर कभी भी शुभ दृष्टि नहीं रखते। आशौच दैवात् प्राप्त होता है तथापि वह दूर हो जाता है वैसे ही प्राप्त हुए पदप्रतिष्ठा आदि विद्वानों से चिपके नहीं रहते, यह अभिप्राय है। अतस्मिन् तद्दृष्टिरध्यासः अर्थात् मिथ्याज्ञान जिसे माया, अविद्या भी कहते हैं। प्राप्त हुआ पद वृथा भारभूत ही होता है। विद्वानों के लिए और शास्त्रीय संन्यासियों के लिए अध्यास वृथा अर्थात् मिथ्याभूत है। अत एव व्यर्थ का भार ढोना है। निःश्रेयस में उसकी कोई उपयोगिता नहीं है इसीलिए। रूपक, श्लिष्टोपमा अलङ्कार॥९७॥

ऐसे प्राणी भृत्य = वेतन के योग्य नहीं हो सकते, इस सत्य को सप्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

नैते भृत्याः कथमपि भुवि प्राणिनः संभवेयुः
किन्त्वेतेषां त्रिभुवनमपि स्यादहो भूरि भृत्यम्।
इत्येवं व्याहरति मनुते शक्यशेषो विशेषं
यस्य प्राज्ञा विदधति विधौ रोचनासूपयोगम्।।९८।।

ये प्राणी किसी भी प्रकार से पृथ्वी पर भृत्य नहीं हो सकते। भृत्यत्व की उनमें सम्भावना ही नहीं की जा सकती। अत एव 'सम्' उपसर्ग का प्रयोग किया गया है—संभवेयुरिति। प्रत्युत इसके विपरीत कार्य ही होगा। इसी के ध्वनन के लिए द्वितीय पाद का उपन्यास है—किन्त्वेतेषामिति। पूरे तीनों भुवनों का समुदाय भी इनका पूरी तरह से भृत्य हो जायेगा। भृत्यत्व की पूर्णता के लिए ही 'भूरि' शब्द का प्रयोग है। यह केवल मेरी कपोलकल्पना ही नहीं है, अपितु वैदिक वाक्यशेष भी ऐसा कहते और मानते आ रहे हैं। उस वाक्यशेष का उपयोग बुद्धिमान् मीमांसक विधियों के प्रवर्तकत्वरूप कार्य में पुरुषों की रुचि के उत्पादन में करते हैं। अयमभिप्राय:—

विचित्र स्वभाव के पुरुष होते हैं जिनकी नैसर्गिकी प्रवृत्ति निसर्गत: रमणीय फलों के प्रति ही होती है। हर कोई चाहता है कि क्षण में करोड़ों हाथ में आ जाय और विकसित कालोनी में कोठी बन जाय तथा सारे संसाधन भी वहीं उपलब्ध हों एवं आधुनिक विचारों से सम्पन्न एडवांस पत्नी भी उपलब्ध हो जाय। न्यायत: इनकी प्राप्ति के जो साधन हैं वे बड़े ही कठिन और श्रमसाध्य हैं जिनमें प्रवृत्ति नहीं होती। उनमें प्रवृत्ति यदि होती भी है तो फलद्वारा ही होती है। लौकिक क्रियाओं का फल दृष्ट है अत: उनमें स्वत: प्रवृत्ति होती है किन्तु धर्म का फल अदृष्ट या अदृष्टद्वारा ही सम्भव है जहाँ प्रवृत्ति कराने के लिए विधियाँ विद्यमान हैं। प्रवृत्ति कराना विधि का स्वभाव है तथापि श्रमसाध्य और व्यय-साध्य कर्मों में पुरुष जब प्रवृत्त नहीं होते तब विधिशक्ति अवरुद्ध होकर स्तुति की आकाङ्क्षा करती है। उस स्तुति का सम्पादन

वाक्यशेष जिन्हें अर्थवाद भी कहते हैं, लक्षणावृत्ति से करते हैं। एवञ्च, धर्मकार्यों में रुचि उत्पन्न होती है और पुरुषों की प्रवृत्ति हो जाने से विधियों का प्रवर्तकत्व भी सिद्ध हो जाता है। इस विषय में अनेकों वाक्यशेष हैं। तथा हि—

'आप्नोति स्वाराज्यम्'। (तैत्ति. १।६।२)

'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति'। (तैत्ति. १।५।३)

'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'। (छान्दोग्य. ७।२५।२)

यद्यपि ये सभी वाक्यशेष ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए हैं तथापि तत्सहायक अन्यविद्याओं में भी अविरुद्ध हैं। स्वाध्याय और प्रवचन (अध्यापन) की प्रशंसा में भी अनेकशः वाक्यशेष विद्यमान हैं। दिग्दर्शन के लिए एक का उल्लेख कर देना अनुचित नहीं होगा—

'अथातः स्वाध्यायप्रशंसा। प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्थान् साधयते। सुखं स्वपिति। परमचिकित्सक आत्मनो भवति। इन्द्रियसंयमश्चैकारामता च। प्रज्ञावृद्धिः। यशोलोकपक्तिः। प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभि निष्पादयति। ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्य्यां यशोलोकपक्तिम्। लोकः पच्यमानश्चतुभिर्धर्मैं ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च'।। (शतपथ. ११।५।७।१)

स्वाध्याय और तदौपयोगिक अन्य विद्याओं का अध्ययन तथा इनका अध्यापन, ये दोनों उसके अनुकूलवेदनीय होते हैं जो ब्रह्मयज्ञस्वाध्याय का अध्ययन करता है। वह पुरुष एकाग्र मन वाला, किसी के अधीन न रहने वाला (अभृत्य) होकर प्रतिदिन योग्य अर्थों का सम्पादन करता है। अन्य वैद्य शरीर की चिकित्सा करते हैं किन्तु वह विज्ञ पुरुष देह से व्यतिरिक्त आत्मा का उक्त स्वाध्याय से पुनः मृत्यु को प्राप्त होने वाली पीड़ा को सर्वदा दूर करता है। अतः आत्मा का परमचिकित्सक माना जाता है। अव्यग्र

होकर वह सोता है अर्थात् दुःखसंस्पर्श को लेकर वह चिन्ताग्रस्त नहीं होता। उसकी इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं अर्थात् अनर्थ का चिन्तन नहीं करतीं। वह एक ही सम्यक् रहता है। उसकी प्रज्ञा बढ़ती है तथा यशोलोक का पाक होता है। उसकी बढ़ती हुई प्रज्ञा अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ और याजन, इन चारों धर्मों का निष्पादन करती है और ब्राह्मणत्व तथा तदनुरूप आचरण का सम्पादन करती है। उसका यश से सम्पन्न लोक चारों धर्मों से ब्राह्मण का पालन करता है। वे चार धर्म हैं—अर्चा = पूजन, दान, किसी प्रकार की भी हानि का अभाव और अवध्यता। इन चारों धर्मों से सारा लोक वेदादिशास्त्रों के अध्ययन और अध्यापन में लगे रहने वाले विद्वान् की आराधना करता है। ये सभी वाक्यशेष कर्मों में रुचि उत्पन्न करा के प्रवृत्ति कराने के लिए हैं, ऐसा प्रज्ञ एव प्राज्ञः (श्रेष्ठविद्वान्) मीमांसकों का मत है। वेदान्ती की दृष्टि से 'यस्य प्राज्ञा विदधति विधौ रोचनासूपयोगम्', इस अंश की व्याख्या बदल जायेगी। प्र + अज्ञ = प्राज्ञ। वे मीमांसक अत्यधिक मूर्ख हैं जो विधि के प्रवर्तन रूप कार्य में रुचि के निष्पादन में ही इस वाक्यशेष का उपयोग करते हैं। उदारतापूर्वक विद्वान् के फल को कहने वाला यह वाक्यशेष उन फलों का बोधक क्यों नहीं हो सकता। अतः विद्वानों की महिमा जो प्रकट हो रही है उसे नकारा नहीं जा सकता।।९८।।

अब धर्मसंघियों के आचरण को लेकर श्रीप्रेमाचार्यशास्त्री जी के द्वारा धर्मसम्राट् श्रीकरपात्रस्वामीजी के ऊपर किये गये आक्षेप के अनौचित्य का प्रतिपादन करते हैं—

धर्मत्राणव्रतिषु भगवत्पाणिपात्रेषु धर्म-
सङ्घीयाँस्तानशनविषयव्यापृतानेव दृष्ट्वा।
आक्षेपस्ते क इव न भवेद् गर्हणीयस्त्रिलोक्यां
दुर्वाच्यत्वं यमिषु सुमहत् साहसं हि स्मरन्ति।।९९।।

धर्मसङ्घ के लोगों को भोजन आदि विषयों में ही तल्लीन देखकर धर्म की रक्षा का ही व्रत धारण करने वाले भगवान् श्रीकरपात्री जी के ऊपर आपका जो आक्षेप है वह तीनों लोकों में किस तरह से गर्हणीय नहीं है। अर्थात् हर तरह से गर्हणीय है क्योंकि मनु आदि शिष्ट त्रैवर्णिकों ने उनके प्रति दुर्वाच्यता को बहुत बड़ा साहस कहा है जो यमी अर्थात् यम-नियम आदि साधनों में लगे रहते हैं। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार॥९९॥

संक्षेपत: स्वामीजी के धर्मार्थ पीडासहत्व को व्यक्त करते हैं—

प्रेष्ठान् प्राणानतिलघुतया मित्र! नाजीगणद् यो
रक्षाहेतोः श्रुतिवृषगवां भारतस्यापि विद्वान्।
कारागारे यमिह यमिनं शासकैरेव नुन्ना
मर्मण्यघ्नन् स खलु भगवान् पाणिपात्रो महात्मा।।१००।।

हे मित्र! जो विद्वान् वेद, धर्म और गौवों तथा भारत की भी रक्षा के लिए अत्यन्त प्रिय कहे जाने वाले प्राणों की भी गणना नहीं किये क्योंकि उनकी दृष्टि में वेदादि की रक्षा के आगे प्राण तुच्छ थे और जिन यमनियमादि से सम्पन्न यति को यहीं स्वतन्त्र भारत में शासकों के ही द्वारा प्रेरित होकर कारागार में भटों ने मर्मस्थल में प्रहार कर दिया था वे भगवान् महात्मा स्वामी करपात्रीजी थे। सर्वथा ऐसे महापुरुष के ऊपर आक्षेप करना उचित नहीं है, यह अभिप्राय है॥१००॥

पुन: स्वामीजी की महिमा को व्यक्त करते हैं—

चिन्मार्तण्डोदयविगलितध्वान्तजातस्य धर्म-
सम्राजःकोऽप्यगममहिमा यत्प्रभावात् तदीयाः।
कालुष्येऽपि प्रबलरतयस्तन्वते तस्य कीर्तिं
कुर्वाते न स्फुटितकुचयोश्चारुतां चूचुकौ किम्।।१०१।।

धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी के हृदय में श्रुतिस्मृतिप्रगीत चिन्मार्तण्ड अर्थात् प्रत्यगात्मतत्त्व रूपी चण्डभानु का उदय हो गया है जिससे सकल अविद्या का विगलन स्वाभाविक है। सूर्य के उदित हो जाने पर तमःपटल का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाता है। अस्त होने पर पुनः वह खमण्डल को आच्छादित करता है किन्तु चित्सूर्य का उदय एक बार हो जाय तो वह अस्त नहीं होता तथा अविद्या तमः का अस्तित्व उस पुरुष की दृष्टि में नहीं रहता। एवञ्च, यहाँ रूपकव्यतिरेकसंकरालङ्कार समझ में आता है। ऐसे स्वामी जी की महिमा ही अगम्य है। वह कोई लोकोत्तर ही महिमा है जिसके प्रभाव से उनको अपना मानने वाले लोग कालुष्यकपट से संपृक्त होते हुए भी, प्रपञ्च में प्रबल प्रीति रखते हुए भी उनकी कीर्ति को धूमिल नहीं कर पाते, अपि तु बढ़ाते ही हैं। क्या विकसित स्तनों में काले-काले विद्यमान चूचुक (स्तनाग्र) उनकी चारुता को नहीं बढ़ाते? अर्थात् बढ़ाते ही हैं। दृष्टान्त अलङ्कार॥१०१॥

प्रसङ्गतः धर्मसंघीयों की बाह्योपचारप्रियता को प्रकट करते हैं—

मुख्यां वृत्तिं निजहृदयतः पाणिपात्रैः प्रदिष्टां
दूरीकृत्य द्रुतमिह मुहुश्चन्द्रमौलीश्वरस्य।
श्रीचक्रादेरपि च विधिवत् केसराद्यै र्महार्घै-
र्द्रव्यैःसेवामनुदिनमहो कुर्वते ते मठेषु॥१०२॥

श्रीकरपात्रस्वामी जी के द्वारा प्रदिष्ट = उपदिष्ट, जैसे नेताओं के द्वारा राष्ट्रविरोधी, धर्मविरोधी, सामाजिकसद्भावविरोधी किये जाने वाले कुत्सित प्रयासों का उन्मूलन, सद्विद्या का वितान आदि, मुख्य वृत्ति को अपने हृदय से शीघ्र ही दूर करके वे बार-बार श्रीचन्द्रमौलीश्वर भगवान् (नीलम का शिवलिङ्ग) की और श्रीचक्र आदि की भी विधिवत् सेवा केसर आदि बहुमूल्य द्रव्यों से प्रतिदिन मठों में करते ही हैं॥१०२॥

उनके बाह्योपचारों से होने वाले लाभ को सुस्पष्ट करते हैं—

सर्वे भालच्छविभिरनिशं चन्दनैः केसराक्तै
रुद्राक्षैरुल्लसितवटुका भान्ति पीताम्बरैश्च।
दृष्ट्वा तेषामपचितिमहो भूरि बाह्योपचारै-
र्भक्ताः श्रद्धाभरमुपगता द्रव्यराशिं किरन्ति।।१०३।।

उल्लसिता वटुका येषु अर्थात् जिनमें लाभान्वित हुए वटुक भी उल्लसित हो रहे हैं ऐसे सभी धर्मसङ्घीय केसरमिश्रित चन्दनों के त्रिपुण्ड्र से जायमान ललाटों की कान्तियों से तथा पीताम्बरों से सुशोभित रहते हैं। बाह्य विविध उपचारों से होने वाली उनकी अत्यधिक पूजा को देखकर सारे भक्त श्रद्धा से परिपूर्ण होकर उनके चरणों में पर्याप्त द्रव्य अर्पित कर देते हैं। काव्यलिङ्ग अलङ्कार।।१०३।।

स्वामीजी के द्वारा प्रदिष्ट मुख्य कार्य की विरोधिनी उनकी कटुता के गोपनप्रकार को कहते हैं—

तेषां पारस्परिककटुता प्रैधते प्राज्ञतेव
निह्नोतुं याममितविभवा लक्षमुद्राभिरेव।
प्रत्यब्दं नैकटिकपरमप्रेष्ठविद्वद्वरस्य
सम्मानार्थं प्रमदबहुले श्रावणे ते यतन्ते।।१०४।।

उनकी आपसी कटुता उनकी प्राज्ञता के ही समान अत्यधिक बढ़ रही है जिसे ढकने के लिए पर्याप्त वैभव से सम्पन्न वे एक लाख रूपयों से प्रतिवर्ष अपने निकटतम और अत्यन्त प्रिय किसी श्रेष्ठ विद्वान् के सम्मान के लिए प्रचुर आनन्द वाले सावन के महीने में प्रयास करते हैं। श्रीस्वामी जी का जन्मोत्सव वे धूम-धाम से मनाते हैं, यह अभिप्राय है। उपमा, काव्यलिङ्ग अलङ्कार।।१०४।।

उनके इस कार्य के औचित्य का उपपादन करते हैं—

यन्नाम्नाऽत्र प्रकृतिमधुरा हस्तयोर्भूतयस्ताः
प्राज्ञत्वेऽपि प्रणतजनताशीर्षपातस्तथाऽङ्घ्र्योः।

शोभायात्रास्वभिनवगजारूढता धूर्तताऽपि
प्राप्येरँश्चेत् तदनुगमनाभाव एष प्रयोगः।।१०५।।

जिस महापुरुष के नाम से इस लोक में न कि परलोक में भी स्वाभाविकतया रमणीय विभूतियाँ हाथों में आ जाँय और प्राज्ञता का प्राचुर्य होने पर भी चरणों में प्रणत जनता का मस्तक गिरता हो तथा शोभायात्राओं में नये नये हाथियों पर बैठने का मौका मिलता हो एवं धूर्तता का भी अच्छा अवसर मिल जाय तो उस महापुरुष का अनुगंमन न कर पाने पर यह प्रयोग होना ही चाहिये। काव्यलिङ्ग अलङ्कार।।१०५।।

ऐसा होने पर भी श्रीस्वामी जी के ऊपर आक्षेप के अनौचित्य को कहते हैं—

मन्ये मित्र! त्वदतुलधियाऽऽविष्कृतं सर्वमेतत्
सत्यं तत्र प्रणिगद पुनः स्वामिनां कोऽस्ति दोषः।
लक्ष्मीभर्तुः सकलचिदचिच्छेषिभूतस्य शेषाः
सर्वे जीवा निगमपदवीगामिनः किं भवन्ति।।१०६।।

हे मित्र! आपने अपनी अनुपम बुद्धि से जो कुछ भी यह आविष्कृत किया है वह पूरा का पूरा यथार्थ है फिर भी आप ही कहें कि स्वामी करपात्री जी महाराज का क्या दोष है? उनके अनुगामीं ही यदि उनके उद्देश्यों की पूर्ति से पराङ्मुख हो जाँय तो वे ब्रह्मलीन महापुरुष क्या कर सकते हैं? सारे चित् और अचित् पदार्थों के शेषी लक्ष्मीपति श्रीनारायण के सभी जीव शेष ही होते हैं तो क्या वे सभी वैदिक मार्ग के अनुगामी ही होते हैं? नहीं होते। कुछ कुमार्गी होते हैं तो उनमें कुछ श्रौत मार्ग के गामी भी होते हैं। इस दृष्टान्त से यही ध्वनित किया गया है कि आज भी कुछ उनकी विचारधाराओं के प्रवर्तक हैं। दृष्टान्त अलङ्कार।।१०६।।

आज भी स्वामी जी की प्रासङ्गिकता है क्योंकि शिष्टों को वे धर्मविरोधियों के विरोध की शिक्षा दे रहे हैं, इस तथ्य को भङ्ग्यन्तर से प्रकट करते हैं—

श्रौताचारं लघु दलयतां शासकानां सदा यो
गुह्ये भीमं नयमयमहालौहदण्डं चकार।
यद्भीतो नाभिमुखमभवद् घूकवद् गान्धिकोऽपि
धर्माकाशेऽप्रमितमहसा भासतेऽसौ विवस्वान्।।१०७।।

भारत में ही पूर्णरूप से प्रतिष्ठित वैदिक आचार को शीघ्र ही विदीर्ण करने वाले शासकों के रहस्यमय कुचक्र रूपी गुह्य में जो नीतिमय विशाल लौहदण्ड कर दिये थे। वह दण्ड भी ऐसा वैसा नहीं था। वह भीम अर्थात् भीषण था। यहाँ रूपकालङ्कार से यह वस्तुध्वनि है कि वे महामनीषी राष्ट्रियहितचिन्तन में चाणक्य की तरह निरन्तर उद्योगशील रहते थे। शासक (स्वतन्त्र भारत के) धर्मविरोधी क्या षड्यन्त्र करने वाले हैं, यह पहले ही जान लेते थे और उसे बहिर्गत करके शासकों के अभियान को शिथिल कर देते थे, यह आकूत है। इतना ही नहीं, गाँधीजी भी घूक (उलूक) की तरह जिनसे डरकर सामने नहीं होते थे वे श्रीस्वामीकरपात्रीजी महाराज धर्म के आकाश में अपने अप्रतिम तेज से विवस्वान् अर्थात् सूर्य ही भासित हो रहे हैं। उलूक कभी भी सूर्य के समक्ष नहीं आता। स्वामीजी भी धर्माकाश में विवस्वान् हैं तो गाँधी जैसे धर्मनिरपेक्षता के पुजारी उनके पास कैसे आ सकते हैं? अन्तिम दो पादों में रूपक और उपमा का सङ्करालङ्कार प्रतीत हो रहा है।।१०७।।

श्रीप्रेमाचार्यशास्त्रीजी ने जगद्गुरुशङ्कराचार्यश्रीमत्स्वरूपानन्द-सरस्वतीजीमहाराज के ऊपर भी आक्षेप किया है जिसके समाधान के लिए उनकी लोकोत्तर अन्तर्दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं—

साक्षाद् भर्गाकृतय इव ये स्वामिपादस्वरूपा-
नन्दाचार्या वियति वितते शर्वरीपूर्णचन्द्राः।
यत् यत् कार्यं भवति निपुणम्मन्यमानैरचिन्त्यं
तत्सर्वं ते निजधिषणया संविधातुं समर्थाः।।१०८।।

साक्षात् भर्ग अर्थात् शिव के आकार के समान तथा विस्तृत आकाश में निशारूप अविद्या के प्रभाव को दूर करने में समर्थ पूर्णचन्द्र रूप जो स्वामी श्रीस्वरूपानन्दसरस्वतीशङ्कराचार्यश्रीमहाराज हैं वे उन सारे कार्यों को अपनी बुद्धि से सम्यक्तया करने में समर्थ हैं जो कार्य स्वयं को निपुण मानने वालों के लिए अचिन्त्य हैं। इससे स्वामी जी की दूरदृष्टि ध्वनित होती है तथा ध्वन्यमान उस दूर दृष्टि से यह ध्वनि है कि उनके द्वारा प्रारब्ध या जानबूझ कर उपेक्षित कोई भी कार्य राष्ट्रिय हित के लिए ही है। उपमा, रूपक अलङ्कार।।१०८।।

पुनः उनके अचिन्त्य प्रभाव को ही प्रस्तुत करते हैं—

प्रत्यग्ज्योतिः स्फुरति भगवत्पादपङ्केरुहाणां
पारम्पर्ये तदमिततपःपुञ्जतो वै प्रसूताः।
आचार्यास्तेऽधिगतपरमाद्वैततत्त्वस्वरूपा-
नन्दाः पीठद्वयमिह धिया तच्छ्रिया संश्रयन्ति।।१०९।।

श्रीमद्भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्यजी की परम्परा अद्भुत है क्योंकि उसमें प्रत्यगात्मब्रह्मज्योति का स्फुरण हो रहा है। उस उद्भुत परम्परा में श्री भगवत्पादजी के अमित (अपरिच्छेद्य) तपःपुञ्ज से ही श्रीमच्छङ्कराचार्य स्वामिस्वरूपानन्दसरस्वतीजी महाराज प्रकट हुए हैं क्योंकि वे अपने ही स्वरूपभूत अद्वैत आनन्द को प्राप्त कर लिए हैं और यहाँ उस बुद्धि से ज्योतिष्पीठ-शारदापीठ का संचालन समुचित प्रकार से कर रहे हैं जिसमें श्रीभगवत्पाद की श्री विद्यमान है। यहाँ 'धिया तच्छ्रिया' में रूपक अलङ्कार है। श्रीभगवत्पाद की

परम्परा में आये शङ्कराचार्यों से आधिक्य की प्रतीति होने से व्यतिरेकालङ्कार भी है जो अद्भुत रस के परिपोषण में वस्तुतः अलङ्कार है। जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः।।

(ध्वन्यालोक २।१७)

यथा—

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।
मुहुःकण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पः स्तनतटं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्।।

यहाँ नायक नायिका को अपनी चाटूक्ति से जब तक प्रसन्न करता है तभी ईर्ष्याविप्रलम्भशृंगार के अनुभावों की चर्वणा में लगे हुए वक्ता के श्लेष, रूपक, व्यतिरेक आदि अलङ्कार बिना यत्न के ही निष्पन्न हो जाते हैं और रसास्वादक की रसचर्वणा में भी विघ्न उत्पन्न नहीं करते।

सर्वथा यहाँ श्रीप्रेमाचार्य जी का भ्रम है कि वे राष्ट्रभक्ताभासों के कार्यों को अवरुद्ध करने के लिए किसी कार्य का उपक्रम करते हैं। स्वामी जी तो अपने बुद्धिकौशल से उनके उन कार्यों को ध्वस्त करते हैं जो राष्ट्र के लिए घातक हैं। वस्तुतः वे हर कार्य के सम्पादन में समर्थ हैं।।१०९।।

श्रीप्रेमाचार्यशास्त्रीजी के द्वारा साम्प्रदायिक दीक्षा के विषय में पूछे गये प्रश्न का उत्तर देने के लिए गुरुक्रम को प्रदर्शित करते हैं—

अन्या दृष्टिः प्रभुरतिफला श्रेयसेऽन्या तपःश्री-
रन्यैवासौ व्यवहृतिरपि स्वच्छता काचिदन्या।

येषामन्तःस्थल उपचिता सत्त्वशुद्धिप्रभाऽन्या
विष्वक्सेनाः कथमिव न ते स्युस्तथाऽन्ये यतीन्द्राः।।११०।।

यहाँ सर्वत्र 'अन्य' शब्द लोकविलक्षणत्व अर्थ में प्रयुक्त है। जिन महापुरुष की दृष्टि (शास्त्रीय ज्ञान) अन्य=लोकविलक्षण थी। कथम्भूता? आह-प्रभुरतिफला=प्रभु भगवान् नारायण के प्रति रति=प्रीति ही जिसका फल हो ऐसी। इससे दृष्टि का प्रपञ्चराहित्य ध्वनित होता है। तथा श्रेय के लिए ही संपादित होने वाली उनकी तपःश्री भी लोकविलक्षण थी। लोकोत्तर उनका तप था, यह अभिप्राय है। उनका वह अनुभवैकगोचर व्यवहार भी अन्य अर्थात् लोकातीत था तथा जिनके अन्तःस्थल में परिपुष्ट हुई सत्त्वशुद्धि की प्रभा भी अन्य थी वे जगद्गुरुश्रीरामानुजाचार्य स्वामी विष्वक्सेनाचार्य यतीन्द्र जी महाराज क्यों नहीं अन्य=लोकोत्तर होंगे? अर्थात् होंगे ही। यहाँ अनुमानालङ्कार सुस्पष्ट है जो अतिशयोक्तिप्रतिभा से उत्थापित है। यद्यपि अतिशयोक्ति अलङ्कार का लक्षण यहाँ घटित है तथापि हमारी दृष्टि में स्वभावोक्ति ही है।।११०।।

अब श्रीस्वामीजी के राष्ट्रिय योगदान को व्यक्त करते हैं—

स्वच्छाचारैःश्रुतसमुचितैरुन्नतैःसद्विचारै-
र्विष्णुप्रीतिप्रवणमसृणा धर्मधारा वितत्य।
ये वाऽनार्यीकरणविषये शासकीयाभियानं
वन्ध्यं चक्रु र्विधिरिव नृणां पौरुषं स्वक्रियासु।।१११।।
तेऽनन्तश्रीधवलितवपुःकान्तयोऽत्र त्रिदण्डि-
विष्वक्सेनाः सकलभगवद्भूतयः प्रादुरासन्।
साश्चर्यं यद् निगमिमहिते तत्कुटीशुद्धसत्त्वे
प्रत्यग्रूपाःसपदि विविशुः पाणिपात्रात्मभासः।।११२।।

(युग्मकम्)

अपने स्वच्छ आचारों से और शास्त्रज्ञानोचित उन्नत सद्विचारों से उन धर्म की धाराओं का विस्तार करके जिनमें भगवान् श्रीविष्णु के प्रेम की प्रवणता हो, अतएव जो कोमल हो, जिन्होंने अनार्यीकरण के शासकीय अभियान को निष्फल कर दिया। कैसे? अपनी क्रियाओं में जैसे भाग्य मनुष्यों के पौरुष को विफल कर देता है। भाग्यभोग का प्रारब्ध यदि प्रबल है तो पुरुषों के सारे पौरुष व्यर्थ हो जाते हैं। कहा भी है—'विपरीततामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता। ऐसे वे अनन्तश्री से स्वच्छ शारीरिक आभा वाले त्रिदण्डिस्वामिश्रीमद्विष्वक्सेनाचार्यजी महाराज इस लोक में भगवान् की सकल विभूतियों के रूप में प्रादुर्भूत हुए थे। अनन्तश्रीधवलितवपुःकान्तयः, यह विशेषण विषय और विषयी दोनों से संपृक्त होगा। एवञ्च, यहाँ रूपकालङ्कार है। इसके ही निष्पादन में अवशिष्ट दो पादों से समर्पित रूपकगर्भित वाक्यार्थ है, अतः वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। जैसा कि कहा गया है—

'हेतो र्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते'।

स्वामीजी भगवान् की सकल विभूतियाँ ही थे क्योंकि उनकी कुटी रूपी शुद्ध सत्त्व में जो निगमी अर्थात् वैदिक विद्वानों से पूजित-अभ्यर्हित है, प्रत्यक्चैतन्यस्वरूप श्रीस्वामिकरपात्रीरूपी आत्मप्रकाश का शीघ्र ही प्रवेश हुआ था। स्वामीजी की कुटी में स्वयम् धर्मसम्राट् स्वामीश्रीकरपात्री जी का प्रवेश हुआ था, इससे ही इनके लोकातीत महत्त्व को समझा जा सकता है।।१११-११२।।

परमेष्ठीगुरु के बाद परम गुरु का उपस्थापन करते हैं—

तेषामन्तर्हृदयनिहिता श्रौतविद्याऽनवद्या
श्रीमद्रामानुजमतसुधापानहर्षातिरेकात्।
आकारं यं बहिरुपगता रामनारायणाख्यं
विद्वद्वृद्धा गुणमिव परब्रह्मणस्तं वदन्ति।।११३।।

उन स्वामीश्रीत्रिदण्डीजीमहाराज के हृदय के अन्दर विद्यमान विशुद्ध श्रौतविद्या (चतुर्दशविद्यायें साक्षात् या परम्परया श्रौत विद्या ही कही जायेंगी) मानो श्रीमद्रामानुजाचार्यजी के विशिष्टाद्वैतमत रूपी अमृत के पान से अत्यन्त हृष्ट हुई बाहर श्रीरामनारायणाचार्य-यतीन्द्रनामक जिस आकार को प्राप्त हुई विद्वद्वृद्ध उसे पर ब्रह्म परमात्मा के गुण जैसा ही समझते हैं। द्वितीय पाद में हेतूत्प्रेक्षा है तथा तृतीय पाद में रूपक एवम् अन्तिमपाद में परब्रह्म की गुणोत्प्रेक्षा की गयी है। श्रीत्रिदण्डीस्वामीजी की श्रौत विद्या ही श्रीरामनारायणाचार्य जी हैं, इस रूपक अलङ्कार से वे श्रीरामनारायणाचार्य जी नहीं हैं अपितु हर्षातिरेक से श्रीत्रिदण्डीजीमहाराज की श्रौत विद्या ही बहिर्भूत हुई है, यह अपह्नुति-अलङ्कारध्वनि है। इस प्रकार कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि का यह उदाहरण समझा जा सकता है। विद्वानों को भ्रान्ति भी हो सकती है जिसके निराकरण के लिए विद्वद्वृद्ध कहा गया है। विद्वद्वृद्ध ऐसा कहते हैं अतः भ्रान्ति की संभावना ही नहीं है, यह वस्तुध्वनि भी है। कविनिष्ठरत्याख्य भाव होने से रसादिध्वनि भी है। इस तरह यहाँ त्रिधा ध्वनि व्याख्यात हुई।।११३।।

अब स्वगुरु के निरूपण का उपक्रम करते हैं—

एतस्यैव प्रथितमहिमस्फीतकीर्तेस्तपोभि-
र्व्योमव्यापि स्फुरणमिव यच्छ्रीपतेराविरासीत्।
अस्मिँल्लोके तदमितमहः श्रीमदूर्जोऽवरोधि
श्रेयःसूतौ विलसतितरां वासुदेवच्छलेन।।११४।।

विख्यात है महिमा जिनकी ऐसे स्वच्छ कीर्ति वाले इनकी ही तपस्याओं से जो तेज आकाश को व्याप्त करके लक्ष्मीपति श्रीनारायण के स्फुरण जैसा आविर्भूत हुआ वही अपरिच्छिन्न तथा श्री से संपृक्त सारभूत तत्त्व की प्राप्ति कराने वाला तेज इस लोक

में नि:श्रेयस के निष्पादन के लिए जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्यश्रीमद्वासुदेवाचार्य के व्याज से सुशोभित हो रहा है। यहाँ उत्प्रेक्षा और अपह्नुति अलङ्कार है।।११४।।

अब उनके अपारज्ञान और अनुग्रहात्मक व्यवहार को कहते हैं—

तेषां ज्ञानश्रियमिह परां संविधातुं गुणोऽसौ
सत्त्वाख्य:किं सरयमितरौ प्रास्यदुच्चै:खलेषु।
नो चेत् तेषामवनविषये संश्रितानां जनानां
सारूप्यं तत् कथमिव भवेद् भूरिशो विष्णुनाऽत्र।।११५।।

उन जगद्गुरु जी की यहाँ पर सर्वोत्कृष्ट ज्ञानलक्ष्मी के निष्पादन के लिए वह प्रसिद्ध सत्त्वनामक गुण क्या अन्य रज: और तमोगुणों को वेगपूर्वक महादुष्टों में प्रक्षिप्त कर दिया है? गुणों का प्रकर्ष और अभिभव (तिरस्कार) शास्त्रों में प्रसिद्ध है। सत्त्व गुण का प्रकर्ष जब होता है तब रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं। वही समय आने पर पुन: उभर जाते हैं। जीवों में ज्ञान का उत्कर्ष और अपकर्ष होता रहता है। श्रीवासुदेवाचार्यजी महाराज में ऐसी बात नहीं है। जड पदार्थों में भी उनका अनुशासन देखने को मिलता है। यदि ऐसा नहीं होता तो उनके शाश्वतिक ज्ञान की प्रतिष्ठा के लिए सत्त्वगुण क्यों अपने सहचरों को हमेशा के लिए खलों में स्थापित करता? स्वामीजी में केवल सत्त्वगुण ही है, अत: उनके ज्ञान में आरोहावरोह नहीं है, यह अभिप्राय है। यदि ऐसा नहीं होता तो अपने आश्रित जनों के परिपालन के विषय में उनका श्रीविष्णुभगवान् से अत्यधिक सारूप्य क्यों होता? यहाँ उत्प्रेक्षा और रूपक अलङ्कारों का परस्पर अङ्गाङ्गित्व से सङ्करालङ्कार है।।११५।।

अब उनके धैर्य गुण का वर्णन करते हैं—

आचार्यास्तेऽतनु तनुभृतां वासुदेवाभिधाना
वन्द्या यस्मादचलमतय: सुभ्रुवां विभ्रमेऽपि।

पूर्णे चन्द्रे सति हि विकसत्तारकाणां निशानां
धीरो वारान्निधिरपि यदा यत्र संक्षोभमेति।।११६।।

वे श्रीमद्वासुदेव नामक आचार्य सभी शरीरधारियों के लिए पूर्णतः वन्दनीय हैं क्योंकि उनकी मति सुन्दर भौंहों वाली वामनयनाओं के विलास में भी अविचल अर्थात् भगवन्निष्ठ ही रहती है। जब कि पूर्ण चन्द्र के विराजमान रहने पर विकसित ताराओं = नक्षत्रों और नेत्रों की कनीनिका वाली निशाओं = रजनियों और नायिकाओं के विभ्रम में लोक में धैर्यशाली के रूप में प्रसिद्ध सागर भी विक्षुब्ध हो जाता है। जो वामनयना सुन्दरियों का विभ्रम सागर को भी विचलित कर देता है वहाँ ये आचार्य अविचल ही रहते हैं, अहो! यह आचार्यश्री की लोकोत्तरता है। यहाँ उपमान सागर से धैर्य के विषय में आचार्य के आधिक्य का वर्णन होने से व्यतिरेकालङ्कार है वह भी अन्तिम दोनों पादों से प्रतीत समासोक्ति के बल से। 'समासोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैरप्राकरणिकाक्षेपः' यह समासोक्ति अलङ्कार का लक्षण है। यहाँ निशाओं का 'विकसत्तारका' विशेषण और सागर का 'धीर' विशेषण अप्राकरणिक नायिकाओं और किसी बहुत बड़े तपस्वी का आक्षेपक है जो विक्षुब्ध हो जाता है।।११६।।

पुनः आचार्यश्री की विद्या की प्रशंसा करते हैं—

के वा लोकेऽभ्युदयपरमश्रेयसां सुप्रकाराः
शिष्टैरिष्टे महति निगमे ये न तस्मिन् विभान्ति।
अन्या विद्या अपि गुणनिधे र्वासुदेवादमोघा
आयातास्ता इति सुमनसां निश्चयः पूर्णतोऽस्ति।।११७।।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः', यह महर्षि कणाद के द्वारा प्रतिपादित धर्म का तटस्थ लक्षण है। अभ्युदय ऐहिक और आमुष्मिक पशु-पुत्र-प्रतिष्ठा-स्वर्ग आदि फलों को कहते हैं तथा निःश्रेयस अपवर्ग (मोक्ष) को कहते हैं। इन फलों के साधन को ही धर्म कहते हैं। यहाँ 'अदृष्टद्वारा', इस पद को भी जोड़ लेना

चाहिये नहीं तो लौकिक उपायों में अतिव्याप्ति हो जायेगी। इसी बात को श्लोक के प्रथम चरण से व्यक्त किया गया है—संसार में कौन ऐसे अभ्युदय और नि:श्रेयस के शोभन उपाय हैं जो शिष्टों को अभीष्ट महान् वेद रूपी उन वासुदेव में नहीं हैं। सारे शोभन प्रकार उनमें समाहित हैं, यह अभिप्राय है। 'सुप्रकारा:', इस पदमें विद्यमान 'सु' पद लौकिक और आभिचारिक साधनों का व्यवच्छेद करता है। वसन्ति सर्वे लोका यस्मिन् स वासु:, स चासौ देव: वासुदेव:। 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुञ्', इस पाणिनीय सूत्र के भाष्य में भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—भगवत इयं संज्ञेति। भगवान् वासुदेव साक्षात् वेद ही हैं, यह बात 'वेदो नारायण: साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम', इत्यादि पौराण वचनों से भी सिद्ध हैं। हमारे आचार्य भी वासुदेवाचार्य के नाम से विख्यात हैं और उनमें भी अभ्युदय-नि:श्रेयस के सारे शोभन प्रकार हैं अत: उनमें निगम (वेद) का समारोप किया गया है। इस प्रकार यहाँ रूपकालङ्कार सुस्पष्ट है। इसके आगे इस रूपक का उपयोग प्रतिपादित है—अन्य सारी अमोघ विद्यायें भी उन्हीं गुण के निधान श्रीवासुदेव से ही निकली हैं, ऐसा विद्वानों का पूर्णत: निश्चय है। इससे स्मृत्यधिकरणन्याय को ध्वनित किया है। श्लोक १७ में जो विद्यायें परिगणित हैं उन्हीं को शास्त्र का दर्जा प्राप्त है और उनका ही वेदमूलकत्वेन या ईश्वरानुशासनत्वेन प्रामाण्य है, इसी तथ्य को 'अमोघा:', इस पद से ध्वनित किया गया है। बौद्ध आदि नास्तिकों की विद्याओं का इससे विच्छेद भी हो जाता है। भगवान् मनु का इस विषय में स्पष्ट उद्घोष है—

'या वेदबाह्या:स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टय:।
सर्वास्ता निष्फला: प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ता: स्मृता:'।।

(मनुस्मृति. १२।९५)

इससे श्रीप्रेमाचार्यशास्त्री जी का सभी को एक करने का उपक्रम भी व्यर्थ समझना चाहिये। प्रकरण से अभिधा के श्रीवासुदेवाचार्य

जी महाराज में नियन्त्रित हो जाने पर जो द्वितीय अर्थ भगवान् वासुदेव की प्रतीति हो रही है उसमें व्यञ्जना व्यापार ही है, ऐसा आचार्य मम्मट का कहना है—

'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्'।।

(काव्यप्रकाश. २।१९)

इस विषय में ध्वन्यालोकलोचन में चार मत दिये गये हैं जिनमें एक मत दोनों अर्थों में अभिधा वृत्ति को ही व्यवस्थित करता है। एवञ्च श्रीमद्वासुदेवाचार्य: भगवान् वासुदेव इव, यह जो उपमा की प्रतीति हो रही है उसके ध्वनित्व में कोई विवाद नहीं है। तथा च, शब्दशक्तिमूलक अलङ्कारध्वनि का यह उदाहरण होगा।।११७।।

अब ऐसे योग्य गुरु से अपनी मन्त्रप्राप्ति को कहते हैं—

तेभ्यस्तिग्मे तपसि निहितागाधधीवैभवेभ्यः
श्रीमद्रामानुजनयविधापण्डितेभ्यो मुरारेः।
मन्त्रं स्वान्त र्दधदिह परं निर्वृतेरस्मि पात्रं
पारम्पर्यं न हि सुकृतिनः सङ्कटेऽपि त्यजन्ति।।११८।।

तीव्र तपस्या में ही जिनका अगाध बुद्धिवैभव समाहित है ऐसे श्रीरामानुजाचार्यजी के मत के प्रकारों के पण्डित उन्हीं जगद्गुरुश्रीमद्रामानुजाचार्यश्रीवासुदेवाचार्य विद्याभास्कर' जी महाराज से भगवान् मुरमथन के मन्त्र को अपने अन्तर्हृदय में धारण करता हुआ मैं परमानन्द का भाजन हो गया हूँ। कैसे मीमांसक होते हुए भी उस सम्प्रदाय में समाश्लिष्ट हो गये?, इस शङ्का का निरास अन्तिम चरण से है—पारम्पर्यं न हि सुकृतिनः संकटेऽपि त्यजन्ति। सुकृती पुरुष अपनी कुलपरम्परा का त्याग संकट में भी नहीं करते। इससे कवि का पितृपितामहादिक्रम से रामानुजीयत्व ध्वनित होता है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।।११८।।

अब प्रसङ्गतः परमाराध्य महापुरुष श्रीमद्विश्वनाथावधूत जी महाराज का स्मरण करते हैं—

मातापित्रोः परमसुकृतापेक्षयाऽऽचार्यतुष्टेः
श्रीमद्विष्णोः पदकमलयोरर्चनाद् वापि भूम्नाम्।
विद्यासिद्धिप्रणयबहुलश्रीगुरूणां प्रसादात्
प्राप्ता मोक्षश्रिय इव मया विश्वनाथावधूताः।।११९।।

माता और पिता के परम पुण्य की अपेक्षा से ही आचार्य किसी के ऊपर प्रसन्न होते हैं और उनकी प्रसन्नता से मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति होती है। इस मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति में श्रीमद्भगवान् विष्णु के चरणकमलों की पूजा और अमितप्रभाव वाले उन गुरुओं की कृपा की भी अपेक्षा होती है जिनका अपार प्रेम शिष्य की विद्यासिद्धि में होता है। श्रीमद्भगवान् विश्वनाथावधूतजीमहाराज मोक्षलक्ष्मी के समान ही मुझे प्राप्त हुए हैं अतः पूर्वोक्त सभी कारण भी उनकी प्राप्ति में सहायक हैं। यहाँ उपमालङ्कार से यह वस्तुध्वनि है कि वैसे महापुरुष को प्राप्त कर लेने पर किसी और वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं रह जाती। यह स्वतःसंभवी अलङ्कार से वस्तुध्वनि का उदाहरण है।।११९।।

इसके बाद सकारण उनके वास्तविक अवधूतत्व को प्रकट करते हैं—

काश्यां विद्याधिगमनमहो भव्यतीर्थे हिमाद्रौ
ब्रह्मोन्मेषादखिलतपसां संप्रयोगस्ततश्च।
प्रत्यक्प्रत्यस्तमितसकलाध्यासदुर्ग्रन्थयस्ते
निस्त्रैगुण्ये पथि विदधतो शम्भुलीलामटन्ति।।१२०।।

काशी विद्या की राजधानी है अतः वहीं विद्या की प्राप्ति का औचित्य है। हिमालय भगवती के जनक हैं और गङ्गा-यमुना आदि पावन नदियाँ वहीं से विनिर्गत होती हैं तथा असंख्य तीर्थ भी वहाँ विराजमान हैं। फलतः उसके तीर्थत्व की भव्यता में कोई सन्देह

नहीं है। इसीलिए कहते हैं—भव्यतीर्थे हिमाद्रौ। स्वामिश्री अवधूतजी महाराजकी तपस्याओं के सारे सम्यक् प्रयोग उसी भव्यतीर्थ हिमालय में ही हुए थे। क्यों? आह-ब्रह्मोन्मेषात्। यहाँ ल्यब्लोपपञ्चमी है। ब्रह्मोन्मेषमुद्दिश्येत्यर्थः। प्रत्यगात्माभिन्न ब्रह्मतत्त्व के प्रकाश के लिए। इससे काम्यप्रयोगों की व्यावृत्ति प्रकाशित की गयी है। एषणात्रय से विनिर्मुक्त आप्तकाम-आत्माभिराम वे महापुरुष हैं, यह अभिप्राय है। 'तपसां संप्रयोगः' का यह अभिप्राय है कि श्रुति, स्मृति और पुराण आदि में जितने प्रकार के तप हैं उनका ठीक से प्रयोग। अन्यथाप्रयोग से क्रियासिद्धि में व्याघात भी संभव है। सारे तपों का संप्रयोग होना चाहिये। कोई तो लक्ष्य तक पहुँचा सकता है। इससे उनकी चतुर्दश विद्यास्थानों में पूर्ण आस्था ध्वनित होती है। इसके बाद फल का कथन है—ततश्च। इतनी क्रियाओं के बाद प्रत्यक्स्वरूप परब्रह्म में उनकी आध्यासिक सारी दुर्ग्रन्थियाँ अस्त हो गयीं हैं! अपने अधिष्ठान में ही अविद्यातत्प्रपञ्च का विलय होता है, यह वेदान्तसमय है। स्वस्मै भासमानत्वं प्रत्यक्त्वम्, यह प्रत्यक्तत्त्व का लक्षण न्यायसिद्धाञ्जनग्रन्थ में श्रीमद्निगमान्तदेशिक के द्वारा किया गया है। यह कैसे स्वीकार किया जाय कि वे उस अवस्था में पहुँच गये हैं? इस प्रश्न के उत्तर में चौथा पाद है—निस्त्रैगुण्ये पथि विदधतः शम्भुलीलामटन्ति। वे निस्त्रैगुण्य मार्ग में भगवान् शिव की लीला का सम्पादन करते हुए विचरण करते हैं। अपने स्वरूप में इस प्रकार की स्थिति के लिए भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश भी है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।

(गीता. २।४५)

त्रिगुणा एव त्रैगुण्यम्, स्वार्थे ष्यञ्।
निर्गतं त्रैगुण्यं यस्मात् तन्निस्त्रैगुण्यमित्यर्थः।।

उपमा अलङ्कार।।१२०।।

उनके निस्त्रैगुण्य का ही प्रतिपादन प्रकारान्तर से करते हैं—

दत्तात्रेयप्रकटपरमाचिन्त्ययोगोपलब्धि-
संविद्रूपद्रविणदलितोद्दामभेदोरुबन्धाः।
ते वेदाम्भोनिधिसुमथनोद्भूतशुद्धप्रकाशा
व्याप्ताकाशा इव सुमनसो विश्वनाथावधूताः।।१२१।।

भगवान् श्रीमद्दत्तात्रेय के द्वारा प्रकट हुए प्रकृष्ट और अचिन्तनीय योगों की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाली संविद्रूप अर्थात् चिद्रूप सम्पत् से जिन्होंने प्रचण्ड भेदों के विशाल बन्धों को छिन्न-भिन्न कर दिया है। अज्ञाननिमित्तक भेदबन्ध स्वामीजी की ज्ञानसंपत्ति से ध्वस्त हो गये हैं, यह अभिप्राय है। इससे उनकी अद्वैतावस्था प्रकट की गयी है। वे वेदरूपी समुद्र के मन्थन से प्रकट हुए शुद्ध प्रकाश हैं। इस तरह की व्याख्या से रूपक अलङ्कार होगा। अत एव व्याप्ताकाशा इव, मानो पूरे आकाश को अपनी आभा से वे व्याप्त कर लिए हैं। वे कौन? सुमनसो विश्वनाथावधूताः। परम विद्वान् श्रीविश्वनाथावधूत जी महाराज हैं। रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार।।१२१।।

पुनः उनमें अपनी अपार निष्ठा को प्रकट करते हुए उपसंहार करते हैं—

आस्तिक्यस्योद्भव इव गिरां नैगमीनामहोऽसौ
बन्धच्छायागुण इव गुरु र्भ्राजते सुष्ठु विद्वान्।
यस्य प्रेम्णा गतमपि मनः पादयो र्मे च भूयो
नेच्छत्यन्यत् किमपि न भवेद् विश्वनाथात् परं हि।।१२२।।

वे विपश्चित् आस्तिकता के उत्पत्तिस्थान के समान और वैदिक वाणियों के बन्धच्छायागुण के समान हैं जो गुरु के रूप में ही सम्यक् सुशोभित हो रहे हैं। वैदिक वाणी के गुम्फन का कान्तिगुण लोकोत्तर है, ऐसी अनादितः पण्डितों की मान्यता है। वेदमुद्रा ही अद्भुत होती है। उसी तरह निराले व्यक्तित्व के धनी श्रीविश्वनाथावधूतजी महाराज हैं, यह अभिप्राय है। उनके व्यक्तित्व की दृढ़ता के लिए पुनः अन्तिम दो पादों से उनके प्रभाव को ही सुस्पष्ट किया गया है—प्रेम के कारण जिनके

चरणों में गया हुआ मेरा मन पुनः किसी अन्य वस्तु की इच्छा नहीं करता क्योंकि विश्वनाथ से ऊपर इस संसार में कोई वस्तु है ही नहीं। ऊपर के दो पादों में उत्प्रेक्षा और उपमा अलङ्कार है। अन्तिम दो पादों के पर्यालोचन से काव्यलिङ्ग की प्रतीति हो रही है क्योंकि 'विश्वनाथात्', इस पद से उपस्थापित तथा अभेदेन अध्यवसित भगवान् विश्वनाथ की अन्तिम काष्ठा अन्य वस्तुओं के प्रति इच्छा के अभाव का निष्पादन कर रही है।।१२२।।

अब श्रीप्रेमाचार्यशास्त्रीजी ने जो यह कहा है कि वैष्णव हो जाने पर पातित्य संभव ही नहीं है अतः वैष्णवों में आरूढपतितों के लिए व्यवस्था का उपपादन उचित नहीं। यद्यपि आरूढपतितों की चर्चा जगद्गुरुश्री रामानन्दाचार्य जी ने अपने वैष्णवमताब्जभास्कर' ग्रन्थ में की है जो शास्त्रीजी को दिखायी नहीं दिया। गजनिमीलन मात्र से यथार्थ वस्तु कैसे दिखायी देगी? फिर भी आक्षेप का समाधान दो श्लोकों से करते हैं—

विष्वक्सेने भगवति परां तैलधारामिवात्र
भक्तिं ये वै विदधति विभौ वस्तुतो वैष्णवास्ते।
भोगायत्ता बहुविधवसुप्राप्तये ये भजन्ते
बाह्याकारान् कथमिह नृणां वैष्णवत्वन्नु तेषाम्।।१२३।।

जो यहाँ तेल की धारा की तरह निरन्तर भगवान् विष्वक्सेन प्रभु में परा भक्ति करते हैं वस्तुतः वे ही वैष्णव होते हैं। ऐसे लोग जानबूझ कर धर्म का अतिक्रमण नहीं करते तो इन्हें वैसा क्यों कहा जायेगा? जो मानव भोग के अधीन होकर बहुत प्रकार के धन को प्राप्त करने के लिए वैष्णवों के बाह्य आकारों को ही स्वीकार करते हैं अर्थात् भजन नहीं करते उनमें वैष्णवत्व कैसे संभव है। वे वैष्णव नहीं वैष्णवाभास हैं, यह अभिप्राय है।।१२३।।

यद्यप्यत्र स्फुटति बहुशो बाह्यचिह्ने विलोलः
सर्वो लोकः कथयति नृणां वैष्णवत्वं त एव।

शास्त्राश्रद्धाघटितघटका भेदका धर्मसेतो-
दुर्वाच्याः स्यु र्न हि कुमतयो माननीया महद्भिः ।।१२४।।

यद्यपि यहाँ किसी भी पुरुष में जब बहुतायत में बाहरी चिह्न विकसित हो जाता है तो सारा लोक ही उसके उस वैष्णवाकार में चञ्चल हो जाता है और पूर्णतः वहाँ वैष्णवत्व है, ऐसा कहने लगता है। वे ही केवल बाह्य चिह्न वाले शास्त्रों में श्रद्धा न होने से अघटित (शिष्टविगर्हित) कार्य करने लगते हैं और धर्मसेतु का ही भेदन करते हैं। जैसे समुद्रलङ्घन और समुद्रयात्रा में भेद करते हैं और यह कहते हैं कि उसका लङ्घन प्रतिषिद्ध नहीं है, अपि तु यात्रा प्रतिषिद्ध है। शायद उन्हें यात्रा और लङ्घन के ऐकार्थ्य का बोध नहीं है। 'या प्रापणे' धातु से 'यात्रा' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ अन्य स्थान की प्राप्ति है। लङ्घन का भी यही अर्थ है। 'कल्लोलिनीवल्लभमुल्ललङ्घे', यहाँ श्रीहनुमान् जी के द्वारा समुद्र लाँघ कर लङ्का की प्राप्ति ही विवक्षित है। समुद्रयात्रा और समुद्रलङ्घन का तात्पर्य भी समुद्र को पार करके अन्य स्थानों की प्राप्ति ही है। ऐसे में भूयिष्ठकल्पों में वे बुद्धिभेद पैदा करके अपना उल्लू सीधा करते हैं। युगान्तरीय पुरुषों को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं। निबन्धग्रन्थों में कलियुगीय व्यवस्था उनकी स्थूल दृष्टि में नहीं आती। कितने निरीह कुपोषण के शिकार हो रहे हैं तथापि वे लाखों व्यय करके पाश्चात्य देशों की शैर करते हैं और धर्म- प्रचार को अपना कवच बनाते हैं। उनसे पूछना चाहिये कि पाश्चात्यों का क्या वर्णाश्रम के विशेषधर्मों में अधिकार है? यदि नहीं तो वहाँ उनका प्रचार कैसे? सामान्य धर्म तो भूमण्डल में रूढ़ होकर व्यवस्थित है। उसके प्रचार की भी आवश्यकता नहीं है। यदि आवश्यकता हो भी तो धर्मसेतु के भेदन की क्या आवश्यकता है? बहुत से वैष्णवाचार्यों ने अपना पैसा लगा कर होटल बनवाया है जिसमें म्लेच्छों की ही व्यवस्था है और उनके ज्ञाति भी वहीं उन्हीं के साथ रहते हैं। अच्छा वे धर्मप्रचार कर रहे हैं। इन्ही सारे तथ्यों को श्लोक के तृतीय पाद से उजागर किया गया है—

शास्त्राश्रद्धाघटितघटका भेदका धर्मसेतोः। ऐसे लोग दुर्वाच्य होंगे ही क्योंकि कुबुद्धि अर्थात् कुत्सित बुद्धि वाले लोग महापुरुषों (शिष्टों) के द्वारा माननीय नहीं होते। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।।१२४।।

सर्वप्रथम श्रीप्रेमाचार्यशास्त्री जी ने भाषा में कहीं पर किये गये शब्दप्रयोगों को अशिष्ट प्रयोग कहकर आक्षेप किया है तो कुत्रचित् अपशब्द प्रयोग कहा है। अनादित्वे सति वाचकत्वम्, यह साधु शब्दों का लक्षण है। पेटिका के सारे शब्द साधु ही हैं अतः उन्हें अपशब्द कहना उनका अज्ञानविजृम्भण ही है। हाँ, खलवर्णन में स्वाभाविकता लाने के लिए काव्यों में कुछ अप्रियार्थक शब्द अवश्य हैं जो आवश्यक हैं। अन्यथा वह खलवर्णन कैसे होगा? वेद से लेकर स्मृति-पुराणों में भी वैसे शब्दों की भरमार है। स्वयम् भगवद्रामानुजाचार्य जी ने भी प्रसङ्गानुसार वैसे शब्दों का प्रयोग किया है। अतः शब्दप्रयोगविषयक आक्षेपों का समाधान दो श्लोकों से करते हैं—

श्रद्धान्धानामपचितिमितः प्राप्य येऽन्तर्विमूढा
मान्यै र्मान्यानपि बुधवरान् मित्र! तूर्णं क्षिपन्ति।
तान् वै दुष्टान् प्रबलवटुकान् हृद्यहो दग्धुकामा
अग्ने र्दावादिव समुदिता विस्फुलिङ्गाः स्फुरन्ति।।१२५।।

जो अन्तर्विमूढ अर्थात् बाह्य शिष्ट श्रद्धा में अन्धे लोगों की यहाँ पूजा प्राप्त करके उन मान्यों के भी मान्य श्रेष्ठ विद्वज्जनों का जब तिरस्कार करते हैं तब हे मित्र! प्रबला वटुकाः कुत्सिता वटवो येषां ते प्रबलवटुकाः। ऐसे दुष्टों को मानो जलाने की इच्छा वाले दावाग्नि से उत्पन्न हुए जैसे विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) मेरे हृदय में उमड़ने लगते हैं।।उत्प्रेक्षा अलङ्कार।।१२५।।

उद्दिश्यैतानपि भुवि भरे भारभूताँश्च भुग्नान्
व्याहारास्ते कटुककटुका औचितीमावहन्ति।
पुंसां पारस्परिकगमने योषितां वापि लोके
वैधत्वाङ्गीकरणविषये खिद्यते पामरोऽपि।।१२६।।

पृथ्वी पर होने वाले भार में भी जो भारभूत हैं, ऐसे इन कुटिलों को अभिलक्षित करके जो कटुकत्वप्रकारक वचन प्रयुक्त होते हैं वे औचित्य से परिपूर्ण होते हैं। खिन्न होकर मनुष्य दुष्टों के प्रति ऐसे वचनों का प्रयोग कर ही देते हैं क्योंकि पुरुषों के ही या स्त्रियों के ही पारस्परिक गमन को वैध बनाने के लिए संसद् में कानूनी जामा पहनाने का जब प्रयास होने लगता है तो पामर अर्थात् जड पुरुष भी खिन्न हो जाता है। फलतः उसके मुख से भी कटु वचन निकलते ही हैं। ऐसे में यदि विज्ञों के मुख से कुछ दुर्वाच्य प्रयुक्त हों तो कोई आश्चर्य नहीं।।१२६।।

अब श्रीप्रेमाचार्य जी के स्वयम् के प्रति कुत्सित उद्देश्य को कहते हैं—

प्रेमन्नन्तर्हृदयमभितो भासि तथ्यं वदातः
संरम्भस्ते प्रभवति न मे मूलतश्छेदनाय?
कस्याश्वासस्त्वयि खलु भवेद् ब्राह्मणे यन्मयि त्वं
साक्षाद्धालाहल इव मुधा भूरिशो भीषणोऽभूः।।१२७।।

यहाँ 'प्रेमन्' शब्द से श्रीप्रेमाचार्यशास्त्रीजी और सांसारिक विषयों के प्रति प्रेम, दोनों का ग्रहण किया गया है। पूरा वाक्यार्थ दोनों अर्थों में पर्यवसित होता है। शास्त्रीजी 'पतितमीमांसा' लिखकर मूलतश्छेदन का ही प्रयास किये हैं। सांसारिक प्रेम भी प्रमाता को प्रभुचरणों से विमुख करके मूलतः छेदन ही करता है। इसीलिए दोनों हालाहल विष की तरह अत्यधिक भीषण हैं। श्लोक की अर्थयोजना इस तरह होगी—हे प्रेमन्! आप मेरे हृदय के भीतर चारों ओर भासित हो रहे हो इसीलिए यथार्थ बोलिये कि आप का उद्योग क्या मुझे मूलतः छिन्न-भिन्न करने के लिए नहीं है? काकू से निषेध की प्रश्न में विश्रान्ति विधिरूपता को स्वीकार कर लेती है। आप के ऊपर कैसे विश्वास किया जाय? आप के ऊपर विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि मुझ ब्राह्मण के प्रति आप व्यर्थ ही साक्षात् हालाहल की तरह अत्यधिक भीषण हो गये हैं। उपमा, काव्यलिङ्ग अलङ्कार।।१२७।।

श्रीशास्त्रीजी का उपक्रम कैसे मूलतः छेदन के लिए है? इसे सुस्पष्ट करते हैं—

सर्वैरेवाहमिह परमोदारविद्वद्विशेषै-
स्त्यक्तः कुण्ठावशमुपगतो निन्दनीयो भवेयम्।
इत्येवं ते मनसि विधुरे दुर्विपाकोऽभिलाषो
नृत्यन्नास्ते खल इव मताधिक्यगर्वाभिभूतः।।१२८।।

परम उदार सारे ही विशिष्ट विद्वज्जनों से यहाँ परित्यक्त अर्थात् उपेक्षित होकर कुण्ठा के वश में हुआ मैं निन्दनीय हो जाऊँ, यही आप के विधुर मन में अभिलाष है। कैसा? दुर्विपाकः। जिसका परिणाम भयानक है। वह केवल उदासीन होकर स्थिर नहीं है। किन्तर्हि? नृत्यन्नास्ते। वह नर्तन कर रहा है। इससे शास्त्रीजी के अभिलाष की आश्वस्तता ध्वनित हो रही है। उसका नर्तन उस खल (दुष्ट) के समान है जो अधिक मत प्राप्त कर लेने पर गर्व से अभिभूत होकर गाने-बजाने के साथ सड़कों पर नाचता है।। उपमा अलङ्कार।।१२८।।

शास्त्रीजी का सारा कुत्सित प्रयास अकिञ्चिकर है, इसे व्यक्त करते हैं—

संसारेऽस्मिन् सकलजनतान्यक्कृतस्यापि विद्वन्।
जानीहि त्वं न मम धिषणा न्यायमार्गादपैति।
सन्नद्धे हि क्षपणकगणे शास्त्रसंदूषणाय
मौनालम्बो भवति विदुषां राष्ट्रविध्वंसहेतुः।।१२९।।

हे विद्वद्वरेण्य! आप यह अच्छी तरह से समझ लें कि इस संसार में सारी जनता से तिरस्कृत होने के बाद भी मेरी बुद्धि न्यायमार्ग से दूर नहीं होगी। शास्त्रविरोधियों को उचित उत्तर देने का प्रयास करती रहेगी क्योंकि शास्त्रों को संदूषित करने के लिए क्षपणकों के सन्नद्ध (आरूढ) हो जाने पर विद्वानों का मौनालम्बन राष्ट्र के विध्वंस का हेतु होता है। शास्त्राणि दूषयित्वा भोगसंपादने क्षपयन्ति कालं ये ते क्षपणकाः। अर्थात् शास्त्रों को दूषित करके सत्ता की प्राप्ति आदि भोगों के संपादन में ही जो समय बिताते हैं वे क्षपणक हैं। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।।१२९।।

इसके पश्चात् दो श्लोकों से अपनी उदात्त प्रेरणा से जीवन को ही बदल देने वाले अनन्तश्रीविभूषित स्वामी अखण्डानन्द-सरस्वती महाराजश्री के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं—

अन्यस्थाने समयमधिकं यापयित्वा जरायां
काश्यां प्राणान् ग्लपयितुमिमे न्यासिनस्ते यतन्ते।
त्यक्त्वा तां तन्मधुरमुरलीतानतृप्ता अखण्डा-
नन्दा वृन्दाविपिनरसिकास्तद्रजःसुप्रलीनाः ।।१३०।।

तेषामेव प्रभुमुररिपुप्रीतिभाजामुदारां
वात्सल्याम्भोनिधिसमुदितां चोदनामाकलय्य।
यत्किञ्चिज्ज्ञोऽहमिह भगवन्! पादयोरेव तेषां
मूर्धानं स्वं मुदमपि परामर्पयित्वा प्रयामि।।१३१।।

काश्यां वस्वाद्यभीप्सितं लब्धुमशक्यात्वादन्यस्थान इत्युक्तम्। कालाधिक्येन तत्र सकललौकिकसमीहित-जातं सम्पाद्य वृद्धावस्थायां विगलितेन्द्रियादिदेहावयवा इत्यर्थः। इमे ते निर्विशेषनित्यमुक्तशुद्ध-प्रत्यगात्मसच्चिदानन्दब्रह्मप्रवक्तारः संन्यासिनः काश्यामागत्य प्राणान् ग्लपयितुं मर्तुमित्यर्थः। यतन्ते। 'काश्यां मरणान्मुक्तिरिति श्रुत्या काशीमरणेन मुक्तिमभिलषन्ति। एतेन तेषां स्वसिद्धान्ते श्रद्धाराहित्यं ध्वन्यते। तामेव जरन्न्यासिभिरन्ते काम्यां काशीं त्यक्त्वा श्रीमद्भगवद्-मधुसूदनलीलाविहारव्रजभूमिमाहात्म्यप्रतिपादका अखण्डानन्दा अखण्डः विषयानविच्छन्न आनन्दो येषान्ते। एवञ्च श्रीमन्महाराजश्रियां वेदान्तनिष्ठाऽपि ध्वन्यते। ततश्चान्यसंन्यासिभ्यो व्यतिरेकश्च। कथमेवम्भूतास्त इत्यपेक्षायामाह तन्मधुरमुरलीतानतृप्ता इति। तेन त्रिभुवनविस्मापनस्वभावेन मुरलीतानेन तृप्ताः। अत्राखण्डानन्दत्वे भगवतः श्रीकृष्णस्य मुरलीतानस्य हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। एवम्भूता श्रीमदखण्डान्दसरस्वतीपदप्रवाला वृन्दावनरसिकाः सन्तो वृन्दावनरजःस्वेव सुष्ठुरूपेण प्रकर्षेण च लीनाः। एतेन तच्चरित्रस्य सकललोकस्पृहणीयत्वं ध्वन्यते। भगवन्माधवप्रीतिशालिनां तेषामेव वात्सल्यसागरसमुद्भूतां चोदनां नियोगमाकलय्य अङ्गीकृत्याहं यत्किञ्चिद्

वेद्मि। अन्यथा कुतो मयि यत्किञ्चिज्ज्ञताऽपि स्यादित्यर्थः। हे भगवन्! तेषामेवाभिलषणीयचरितानां महात्मनां पादयोः स्वकीयं मस्तकं समर्प्य मुदमपि प्रयामि। अनेकवैचित्र्यानुवेधसंवलितोऽभ्युदयस्तु प्राप्यत एव, मुदमपि तथाविधां प्राप्नोमीत्यपेः प्रतिपाद्योऽर्थः।।१३०-१३१।।

अब प्रकृत ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं—

प्रेमाचार्यप्रणयपटुतापूर्णपत्रावलीं तां
दृष्ट्वा ताम्यत्तरलमनसा प्रेमपत्रं मयैवम्।
छन्दोबद्धं विरचितमिदं ध्वान्तनाशाय तेषां
तेन प्रीतो भवतु भगवान् भूयसे मङ्गलाय।।१३२।।

।।इतिश्रीकविवरकमलाकान्तत्रिपाठिप्रणीतं प्रेमपत्रकाव्यं संपूर्णम्।।

श्रीप्रेमाचार्यशास्त्री शास्त्रार्थपञ्चानन जी के प्रेम और उनकी पटुता (चातुर्य) से पूर्ण उस पत्रावली को देखकर क्षुब्ध और चञ्चल मन वाला हुआ मैं इस प्रकार का 'मन्दाक्रान्ता' छन्द में निबद्ध इस 'प्रेमपत्र' का निर्माण किया हूँ ताकि स्मृति आदि शास्त्रों के विषय में विद्यमान उनका अन्धकार नष्ट हो जाय। हमारे इस 'प्रेमपत्र' से प्रसन्न होकर भगवान् श्रीनारायण भी हम सभी के लिए परम मङ्गलकारी हों।।१३२।।

पद्येषु शास्त्रसरणिस्फुरितान् पदार्थान्
सम्यक्तया सुनिपुणं प्रतिपादयन्ती।
व्याख्येयमत्र किल 'हैमवती' हिमांशु-
मौलौ स्थितेव विदुषां मुदमातनोतु।।

।।इति भार्गवगोत्रीयश्रीशिवगोविन्दत्रिपाठिपौत्र तथा श्रीउमाशङ्करत्रिपाठितनय
श्रीकमलाकान्तत्रिपाठी के द्वारा प्रेमपत्रकाव्य की
यह व्याख्या भी पूर्ण हुई।।

।।इति शम्।।

●

आर्यमर्यादापीठ द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ

१.	धर्मशुद्धि	डॉ. कमलाकान्तत्रिपाठी
२.	पातित्यपेटिका	डॉ. कमलाकान्तत्रिपाठी
३.	प्रसुप्तोन्मेष	डॉ. कमलाकान्तत्रिपाठी
४.	महाभारत संग्राम एवं भीष्मनिर्वाण	डॉ. गिरीशदत्तपाण्डेय

भारतीय आर्यमर्यादाविज्ञानसमिति

वाराणसी